ग्रन्थकार का परिचय

श्री देवसूरि गुर्जरदेश के 'मद्दाहृत' नामक नगर में उत्पन्न थे। पोरवाल नामक वैश्य जाति के भूषण थे। उनके पिता 'वीरनाग' और माता 'जिनदेवी' थी। श्री देवसूरि का पूर्व नाम पूर्णचन्द्र था। वि० सं० ११४३ में इनका जन्म हुआ था। वि० सं० ११५२ में उन्होंने बृहत्तपगच्छीय यशोभद्र नेमिचन्द्र सूरि के पट्टालङ्कार श्री मुनिचन्द्र सूरिजी के पास दीक्षा अङ्गीकार की थी। पूर्णचन्द्र ने थोड़े ही समय में अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। गुरुजी ने उनकी वादशक्ति से सन्तुष्ट होकर वि० सं० ११७४ में 'देवसूरि' ऐसा नाम संस्करण करके आचार्य पद प्रदान किया। वि० सं० ११७८ कार्तिक कृष्णा में गुरुजी का स्वर्गवास हो जाने के बाद श्री देवसूरि ने गुजरात, मारवाड़, मेवाड आदि देशों में विचरण करके धर्म-प्रचार किया और नागौर के राजा आह्लादन, पाटन के प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह तथा गुर्जरेश्वर कुमारपाल आदि को धर्मानुरागी बनाया था।

श्री देवसूरिजी की वादशक्ति बहुत ही विलक्षण थी। बहुत से विवादों में उन्होंने विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। कहा जाता है कि पाटन में सिद्धराज जयसिंह नामक राजा की अध्यक्षता में एक दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र के साथ 'स्त्री मुक्ति, केवलिभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति' के विषय में सोलह दिन तक वादविवाद हुआ था और उसमें भी विजय प्राप्त करके वादिदेवसूरिजी ने अपनी प्रखर तार्किक बुद्धि का परिचय दिया था।

श्री वादिदेवसूरि जैसे तार्किक थे वैसे ही प्रौढ लेखक भी। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ को विशद करने के लिये 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक बृहत् स्वोपज्ञ भाष्य लिख कर अपनी तार्किकता का सुन्दर परिचय

ा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।
प्रकार श्री देवसूरि धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना, वाद-विवाद आदि
त्तियों द्वारा जिनशासन समुज्ज्वल करते हुये वि० सं०
=६ से भद्रेश्वर सूरि को गच्छभार सौंप कर श्रावण कृष्णा सप्तमी
दिन ऐहिक जीवनलीला समाप्त कर स्वर्गधाम को प्राप्त हुये।

स ग्रन्थ की टीकाएँ और अनुवाद

इस ग्रंथ की उपयोगिता और उपादेयता इसी से सिद्ध हो
ती है कि खुद ग्रथकार ने ही इस ग्रन्थ के अर्थगाभीर्य को
स्फुट करने के लिये =४ हजार श्लोक-परिमाण मे 'स्याद्वादरत्नाकर'
मक बृहद् ग्रंथ रत्न की रचना की है और उन्हीं के शिष्य रत्न श्री
त्नप्रभसूरिजी ने 'रत्नाकरावतारिका' नामक सुन्दर सुललित न्याय-ग्रंथ
ी रचना की है। यह ग्रंथ वर्त्तमान में 'न्यायतीर्थ' की परीक्षा में
यत किया गया है।

स्याद्वाद-रत्नाकर तो अति विस्तृत होने के कारण इसका
नुवाद होना कठिनसा है लेकिन रत्नाकरावतारिका का तो पण्डितजी
ने नैयायिक द्वारा सरल सुबोध राष्ट्रीय भाषा मे विवेचन और
ामाणिक अनुवादन करा कर प्रसिद्धि में लाना नितान्त आवश्यक
। ऐसे प्रेरणाप्रद प्रकाशन के द्वारा ही ग्रन्थ-गौरव बढ़ सकता है,
याय-ग्रन्थ पढने की अभिरुचि बढ़ सकती है और जन-समूह जैन-
र्शन की समृद्धि से परिचित हो सकता है।

ग्रन्थ की उपयोगिता और प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता को लक्ष्य में लेकर कलकत्ता-
संस्कृत-एसोसियेशन ने जैनन्याय की प्रथमा परीक्षा में इसे स्थान
दिया है। प्रतिवर्ष अनेक छात्र जैन न्याय की परीक्षा देते हैं और इस

दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन पाठन जैन-समाज में [illegible]
किन्तु ऐसी उपयोगी पुस्तक का [illegible]
और विषय जटिलता के कारण [illegible]
थे वह दूर की जा सके, इस ओर अभी तक किसी का [illegible]
गया था। इस अभाव की पूर्ति आज की जा रही है और [illegible]
ऐसे प्रौढ़ पण्डितजी के द्वारा जिन्होंने [illegible]
को न्याय-शास्त्र पढ़ाया है और 'न्यायतीर्थ' भी बना दिया है।

इस सरल सुबोध विवेचन और अनुवाद द्वारा छात्रों [illegible]
बहुतसी परेशानी कम हो जायगी और जो न्याय-शास्त्र को जटि
समझ कर न्याय शास्त्र से दूर भागते हैं उन्हें यह अनुवाद प्रग
पथ-प्रदर्शन करेगा। इसके अतिरिक्त जो संस्कृत भाषा से अनभि
हैं वे भी प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर न्यायशास्त्र में प्रवेश कर सकेंगे

ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और अनुवादन कितनी सा
धानी पूर्वक हुआ है यह तो पुस्तक के पठन-पाठन से ज्ञात हो
जायगा। जैन न्याय के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या इ
पुस्तक में की गई है तथा छात्रों की शंकाओं का सप्रमाण समाधा
करने का प्रयास किया गया है—यह इसकी विशेषता है जो छात्रों
लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत न्याय-ग्रंथ का ऐसा सुन्दर छात्रोपयोगी [illegible]
निकालने के लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनों [illegible]।

ग्रंथ की उपादेयता पाठ्यक्रम में अपना [illegible]
[illegible] लेगी ऐसी शुभाशा है। सुज्ञेषु किं बहुना।

प्रासंगिक

—०ꕥ०—

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, न्यायशास्त्र का प्रवेश-ग्रन्थ है। इसे ।धिवत् अध्ययन करने के पश्चात् ही न्यायशास्त्र मे आगे कदम ढाया जा सकता है। यही कारण है कि प्राय: सभी श्वेताम्बरीय रीक्षालयो के पाठ्यक्रमो मे यह नियुक्त किया गया है।

इस प्रकार पर्याप्त पठन-पाठन होने पर भी अब तक हिन्दी ाषा मे इसका अनुवाद नही हुआ था। इससे छात्रो को तथा अन्य न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओ को बडी अड़चन पड़ती थी। यही अडचन दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया है। अनुवाद मे सरलता और संक्षेप का ध्यान रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले विद्यार्थियो के सामने रखकर उनसे 'पास' करा लिया गया है।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक अभ्यासियो को इससे बहुत कुछ सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है। विद्वान् अध्यापको से यह अनुरोध है कि वे इसकी त्रुटियॉ दिखलाने की कृपा करे, ताकि आगामी संस्करण अधिक उपयोगी और विशुद्ध हो सके।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक

के

विषयानुक्रम

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक

——०❀०——

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

रागद्वेषविजेतारं, ज्ञातारं विश्ववस्तुनः ।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥

अर्थ—राग और द्वेष को जीतने वाले—वीतराग, समस्त वस्तुओ को जानने वाले—सर्वज्ञ, इन्द्रो द्वारा पूजनीय तथा वाणी के स्वामी तीर्थंकर भगवान् को मै स्मरण करता हूँ ।

विवेचन—ग्रथ-रचना मे आने वाले विघ्नो का निवारण करने के लिए आस्तिक ग्रथकार अपने ग्रथ की आदि मे मगलाचरण करते है । मंगलाचरण करने से विघ्न-निवारण के अतिरिक्त शिष्टाचार का पालन भी होता है और कृतज्ञता का प्रकाशन भी ।

प्रस्तुत मगलाचरण मे 'तीर्थेश' का स्मरण किया गया है । साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, यह चतुर्विध सघ तीर्थ कहलाता है । तीर्थ के स्वामी को तीर्थेश कहते हैं ।

तीर्थेश के यहां चार विशेषण हैं । यह विशेषण क्रमशः उनके चार मूल अतिशयो अर्थात विशिष्टताओ के सूचक हैं ।

अतिशय यह हैं :— (१) अपायापगम-अतिशय (२) ज्ञान-अतिशय (३) पूजातिशय (४) वचनातिशय ।

ग्रंथ का प्रयोजन

प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते ॥१॥

अर्थ—प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करने के लिए यह ग्रंथ आरम्भ किया जाता है ।

प्रमाण का स्वरूप

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥२॥

अर्थ—स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ के निर्णय की कसौटी प्रमाण ही है । अतएव सर्वप्रथम प्रमाण का लक्षण बताया गया है । यहां 'स्व' का अर्थ ज्ञान है और 'पर' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ । तात्पर्य यह है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने-आपको भी जाने और दूसरे पदार्थों को भी जाने, और वह भी यथार्थ तथा निश्चित रूप से ।

ज्ञान ही प्रमाण है

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणं, अतो ज्ञानमेवेदम् ॥३॥

अर्थ—ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु स्वीकार करने तथा त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अत: ही प्रमाण है ।

विवेचन—उपादेय क्या है और हेय क्या है, इसे बतला देना ही प्रमाण की उपयोगिता है। प्रमाण की यह उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जब प्रमाण को ज्ञान रूप माना जाय। यदि प्रमाण ज्ञान रूप न होगा—अज्ञान रूप होगा, तो वह हेय-उपादेय का विवेक नहीं करा सकेगा। जब प्रमाण से हेय-उपादेय का विवेक होता ही है तो उसे ज्ञान रूप ही मानना चाहिए।

अज्ञान प्रमाण नहीं है

न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं, तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ॥४॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि[*] अज्ञानों को प्रमाणता मानना उचित नहीं है क्योंकि वे दूसरे पदार्थों (घट आदि) की तरह स्व और पर का निश्चय करने में साधकतम नहीं है।

विवेचन—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते है। वैशेषिक दर्शन मे सन्निकर्ष प्रमाण माना गया है। उसी सन्निकर्ष की प्रमाणता का यहां निषेध किया गया है। पहले यह बतला दिया गया था कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, पर सन्निकर्ष ज्ञान रूप नहीं है अतएव वह प्रमाण भी नहीं हो सकता।

सूत्र का भाव यह है—अज्ञान रूप सन्निकर्ष प्रमाण नही है, क्योंकि वह स्व और पर के निश्चय मे साधकतम (करण) नहीं है। जो-जो स्व-पर के निश्चय में करण नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता,

---

[*] आदि शब्द से यहा कारक-साकल्य आदि की प्रमाणता का निषेध किया गया है, पर उसका विवेचन कुछ गहन होने से यहाँ छोड दिया गया है।

सन्निकर्ष पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपना (स्व का) निश्चय नहीं कर सकता, जो अपना निश्चय नहीं कर सकता वह पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, जैसे घट।

प्रमाण निश्चयात्मक है

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाण-त्वाद् वा ॥६॥

अर्थ—प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह समारोप का विरोधी है अथवा प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह प्रमाण है।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताते समय उसे निश्चयात्मक कहा था पर बौद्ध दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है। जैनदर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसमें सिर्फ सामान्य का बोध होता है वही बौद्धों का निर्विकल्प ज्ञान है। निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का निषेध करके यहां यह बताया गया है कि प्रमाण निश्चयात्मक है। निर्विकल्प ज्ञान में 'यह घट है, यह पट है', इत्यादि विशेषों का ज्ञान नहीं होता, इसी कारण वह ज्ञान प्रमाण नहीं है।

यहाँ प्रमाण को व्यवसाय-स्वभाव कहा है, इससे यह भी फलित होता है कि संशय-ज्ञान, विपरीत-ज्ञान और अनध्यवसाय-ज्ञान भी प्रमाण नहीं है।

सूत्र का भाव यह है—प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) है, क्योंकि वह समारोप—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—का विरोधी है; जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह समारोप का विरोधी नहीं होता जैसे घट। तथा—

जैसे घट। सन्निकर्ष स्व-पर के निश्चय में करण नहीं है इस कार प्रमाण नहीं है।

सन्निकर्ष स्व-पर-व्यवसायी नहीं है

न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वम्, स्तम्भादेरिवा चेतनत्वात्; नाप्यर्थनिश्चितौ स्वनिश्चितावकरणस्य कुम्भा देरिव तत्राप्यकरणत्वात् ॥५॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि स्व-निर्णय मे करण नहीं है, क्योंकि वे अचेतन हैं; जैसे खम्भा वगैरह। सन्निकर्ष आदि अर्थ (पदार्थ) के निर्णय में भी करण नहीं हैं, क्योंकि जो स्व-निर्णय में करण नहीं होता वह अर्थ के निर्णय मे भी करण नहीं होता, जैसे घट आदि।

विवेचन—सन्निकर्ष की प्रमाणता का निषेध करने के लिए 'वह स्व-पर के निश्चय मे करण नहीं है' यह हेतु दिया गया था। किन्तु यह हेतु प्रतिवादी-वैशेषिक को सिद्ध नहीं है और न्याय-शास्त्र के अनुसार हेतु प्रतिवादी को भी सिद्ध होना चाहिए। जिस हेतु को प्रतिवादी स्वीकार नहीं करता वह असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार जब हेतु असिद्ध हो जाता है तब उस हेतु को साध्य बना कर उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे हेतु का प्रयोग करना पड़ता है। यहां यही पद्धति उपयोग मे ली गई है। पूर्वोक्त हेतु के दो खण्ड करके दोनों को सिद्ध करने के लिए यहां दो हेतु दिये गये हैं।

भाव यह है—सन्निकर्ष स्व के निश्चय में करण नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है; जो-जो अचेतन होता है वह-वह स्व-निश्चय में करण नहीं होता, जैसे स्तम्भ। तथा—

सन्निकर्ष पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपना (स्व का) निश्चय नहीं कर सकता. जो अपना निश्चय नहीं कर सकता वह पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, जैसे घट।

प्रमाण निश्चयात्मक है

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाण-त्वाद् वा ॥६॥

अर्थ—प्रमाण व्यवसाय रूप है. क्योंकि वह समारोप का विरोधी है अथवा प्रमाण व्यवसाय रूप है. क्योंकि वह प्रमाण है।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताते समय उसे निश्चयात्मक कहा था पर बौद्ध दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है। जैनदर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसमें सिर्फ सामान्य का बोध होता है वही बौद्धों का निर्विकल्प ज्ञान है। निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का निषेध करके यहां यह बताया गया है कि प्रमाण निश्चयात्मक है। निर्विकल्प ज्ञान में 'यह घट है. यह पट है', इत्यादि विशेषों का ज्ञान नहीं होता. इसी कारण यह ज्ञान प्रमाण नहीं है।

यहाँ प्रमाण को व्यवसाय-स्वभाव कहा है. इससे यह भी फलित होता है कि संशय-ज्ञान, विपरीत-ज्ञान और अनध्यवसाय-ज्ञान भी प्रमाण नहीं हैं।

सूत्र का भाव यह है—प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) है, क्योंकि वह समारोप—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—का विरोधी है; जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह समारोप का विरोधी नहीं होता: जैसे घट। तथा—

अर्थ—'अरे क्या है ?' इस प्रकार का अत्यन्त सामान्य ज्ञान होना अनध्यवसाय है।

जैसे—जाते समय तिनके के स्पर्श का ज्ञान।

विवेचन—रास्ते मे जाते समय, चित्त दूसरी तरफ लगा रहने से तिनके का पैर से स्पर्श होने पर, 'यह क्या है' इस प्रकार का विचार आता है। इसी को अनध्यवसाय कहते हैं। इस ज्ञान में अतद्रूप वस्तु तद्रूप मालूम नहीं होती, इस कारण समारोप का लक्षण पूर्ण रूप से अनध्यवसाय मे नहीं घटता, किन्तु अनध्यवसाय के द्वारा यथार्थ वस्तु का ज्ञान न होने के कारण इसे उपचार से समारोप माना गया है।

संशय और अनध्यवसाय मे भेद—संशय ज्ञान में भी यद्यपि विशेष वस्तु का निश्चय नहीं होता फिर भी विशेष का स्पर्श होता है, परन्तु अनध्यवसाय संशय से भी उतरती श्रेणी का ज्ञान है। इसमें विशेष का स्पर्श भी नहीं है और इसी कारण इसमे अनेक अंश भी प्रतीत नहीं होते।

'पर' का अर्थ

ज्ञानादन्योऽर्थः परः ॥१५॥

अर्थ—ज्ञान से भिन्न पदार्थ 'पर' कहलाता है।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान अपना और पर का निश्चय करता है वह प्रमाण है। सो यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

पर शब्द का अर्थ समझाने के लिए अलग सूत्र रचने का विशेष प्रयोजन है। घट, पट आदि पदार्थों के सम्बन्ध में अनेक मत है। बौद्धो मे एक माध्यमिक सम्प्रदाय है। वह घट आदि बाह्य पदार्थों को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थों को मिथ्या मानता है। वह शून्यवादी है। उसके मत के अनुसार जगत् का यह समस्त प्रपंच मिथ्या है, वास्तव मे कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। अनादि कालीन मिथ्या संस्कार के कारण हमें यह पदार्थ मालूम होते हैं।

माध्यमिक के अतिरिक्त वेदान्ती लोग भी बाह्य पदार्थों को मिथ्या समझते है। इनके मत से एकमात्र ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त प्रतीत होने वाले पदार्थ असत् है। बौद्धो मे भी एक सम्प्रदाय सिर्फ ज्ञान को वास्तविक मानता है और अन्य पदार्थों को भ्रम मात्र कहता है। इन सब मतो के विरुद्ध, जैन-दर्शन ज्ञान को वास्तविक मानता है और ज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले घट, पट आदि अन्य पदार्थों को भी वास्तविक स्वीकार करता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन का विरोध करने के लिए आचार्य ने इस सूत्र का निर्माण किया है।

स्वव्यवसाय का समर्थन

स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनम्, बाह्यस्येव तदाभिमुख्येनः करिकलभकमहमात्मना जानामि ॥१६॥

शब्दार्थ—बाह्य पदार्थ की ओर उन्मुख होने पर जो ज्ञान होता है वह बाह्य पदार्थ का व्यवसाय कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान अपनी ओर उन्मुख होकर जो जानता है वह स्व का व्यवसाय कहलाता है। जैसे—मैं, अपने ज्ञान द्वारा, हाथी के बच्चे को, जानता हूँ।

विवेचन—यहाँ भी स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त के साथ समर्थन किया गया है। जो ज्ञान बाह्य पदार्थ-घट आदि को जानता है वही अपने-आपको भी जान लेता है। हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हो जाय किन्तु यह ज्ञान न हो कि 'हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हुआ है' ऐसा कभी सम्भव नहीं है। बाह्य पदार्थ के जान लेने को जब तक हम न जान लेंगे तब तक वास्तव में बाह्य पदार्थ का जानना संभव नहीं है। जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा घट आदि पदार्थों को जब हम देख लेते हैं तब सूर्य के प्रकाश को भी अवश्य देखते है, इसी प्रकार जब ज्ञान द्वारा किसी पदार्थ को जानते हैं तब ज्ञान को भी अवश्य जानते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश को देखने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती इसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। जैसे सूर्य अनदेखा नहीं रहता इसी प्रकार ज्ञान भी अनजाना नहीं रहता।

प्रमाणता का स्वरूप

ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥ तदितरत्त्वप्रामाण्यम् ॥१८॥

अर्थ—प्रमेय से अव्यभिचारी होना—अर्थात् प्रमेय पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना, यही ज्ञान की प्रमाणता है।

इससे विरुद्ध अप्रमाणता है अर्थात् प्रमेय पदार्थ को यथार्थ रूप से न जानना—जैसा नहीं है वैसा जानना—अप्रमाणता है।

विवेचन—जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में जानना ज्ञान की प्रमाणता है और अन्य रूप से जानना अप्रमाणता है। प्रमाणता और अप्रमाणता का यह भेद बाह्य पदार्थों की अपेक्षा समझना

चाहिए। प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है अत स्वरूप की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं; बाह्य पदार्थों की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाण होता है, कोई अप्रमाण होता है।

प्रमाण की उत्पत्ति और ज्ञप्ति

तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च ॥१६॥

अर्थ—प्रमाणता और अप्रमाणता की उत्पत्ति परतः ही होती है तथा प्रमाणता और अप्रमाणता की ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वत होती है और अनभ्यास दशा में परत. होती है।

विवेचन—जिन कारणो मे ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन कारणो के अतिरिक्त दूसरे कारणो से प्रमाणता का उत्पन्न होना परत. उत्पत्ति कहलाती है। जिन कारणो मे ज्ञान का निश्चय होता है उन्हीं कारणो मे प्रमाणता का निश्चय होना स्वत ज्ञप्ति कहलाती है और दूसरे कारणो से निश्चय होना परत. ज्ञप्ति कहलाती है।

उत्पत्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनो ही पर निमित्त मे उत्पन्न होती हैं। जब किसी वस्तु के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष को कोई विद्वान उसका स्वरूप समझाता है तो वह उस वस्तु के स्वरूप को समझने लगता है। यहाँ समझाने वाले का ज्ञान यदि निर्दोष है तो उस समझने वाले पुरुष के ज्ञान में भी प्रमाणता आ जाती है और यदि समझाने वाले का ज्ञान सदोष है तो उसके ज्ञान मे भी अप्रमाणता आ जाती है। इस प्रकार उस ीन पुरुष के ज्ञान मे प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनों ही की पर निमित्त मे होती है।

जब कोई वस्तु बार-बार के परिचय से अभ्यस्त हो जाती है तो उस वस्तु का ज्ञान होते ही उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का भी निश्चय हो जाता है। जैसे—गुरु अपने शिष्य को प्रतिदिन देखता है। इस अभ्यास-दशा में शिष्य का प्रत्यक्ष होते ही गुरु को अपने शिष्य विषयक ज्ञान की प्रमाणता का भी निश्चय हो जाता है। शिष्य को देख कर गुरु यह नहीं सोचता कि मुझे अपने शिष्य का ज्ञान हो रहा है सो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? इसी को अभ्यास दशा में स्वतः ज्ञप्ति हो जाना कहते हैं।

जब कोई वस्तु अपरिचित होती है तब उसका ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का निश्चय तत्काल नहीं हो जाता। वह सोचने लगता है—मुझे अमुक वस्तु का ज्ञान हुआ है पर न जाने यह ज्ञान सच्चा है या मिथ्या ? इसके बाद उस ज्ञान को पुष्ट करने वाला कारण अगर मिल जाता है तो उसे अपने ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय हो जाता है. इसी को अनभ्यास दशा में परतः ज्ञप्ति (निश्चय) कहते हैं। इसके विपरीत यदि ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई कारण मिल जाता है तो वह पुरुष अपने ज्ञान की अप्रमाणता का निश्चय कर लेता है।

यहाँ सामान्य ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय दूसरे कारण से होता है। अतएव अनभ्यास दशा में प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय परतः बतलाया गया है।

मीमांसक लोग प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः ही मानते हैं और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति परतः ही मानते हैं। प्रकृत सूत्र में उनके मत का निरसन किया गया है।

हैं। आगे तीसरे अध्याय मे परोक्ष के पांच भेद बतलाये जायेंगे। उनमे अनुमान और आगम भी है। उपमान प्रमाण सादृश्यप्रत्यभिज्ञान नामक परोक्षभेद मे अन्तर्गत है और अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। अभाव प्रमाण यथायोग्य प्रत्यक्ष आदि मे समाविष्ट है। अतएव प्रत्यक्ष और परोक्ष—यह दो भेद ही मानना उचित है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥

अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ का वर्ण, आकार आदि विशेष मालूम होना स्पष्टत्व कहलाता है।

विवेचन—प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है और परोक्ष अस्पष्ट होता है। यही दोनो प्रमाणों मे मुख्य भेद है। प्रत्यक्ष प्रमाण मे रहने वाली स्पष्टता क्या है, यह उदाहरण से समझना चाहिए। मान लीजिये—एक बालक को उसके पिता ने अग्नि का ज्ञान शब्द द्वारा करा दिया। बालक ने शब्द (आगम) से अग्नि जान ली। इसके पश्चात् फिर धूम दिखा कर अग्नि का ज्ञान करा दिया। बालक ने अनुमान से अग्नि जान ली। तदनन्तर बालक का पिता जलता हुआ अँगार उठा लाया और बालक के सामने रख कर कहा—देखो, यह अग्नि है। यह प्रत्यक्ष से अग्नि का जानना कहलाया।

यहाँ पहले दो ज्ञानो की अपेक्षा, अन्तिम ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का विशेष वर्ण, स्पर्श आदि का जो साफ-सुथरा

है, पर इन्द्रियाँ वहा असाधारण कारण हैं, अतएव उसे इन्द्रिय-निबंधन नाम दिया गया है।

इन्द्रियनिबन्धन—अनिन्द्रियनिबन्धन के भेद

एतद् द्वितयमवग्रहेहावायधारणाभेदादेकशश्चतुर्विकल्पकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से यह दोनो प्रकार का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार-चार प्रकार का है। अर्थात् इन्द्रियनिबन्धन के भी चार भेद हैं और अनिन्द्रियनिबन्धन के भी चार भेद है।

अवग्रह का स्वरूप

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्ज्ञातं, आद्यं, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ॥ ७ ॥

अर्थ—विषय (पदार्थ) और विषयी (चक्षु आदि) का यथोचित देश मे सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र को जानने वाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सब से पहले, मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जानने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है।

विवेचन—जैन शास्त्रो में दो उपयोग प्रसिद्ध हैं—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। पहले दर्शनोपयोग होता है फिर ज्ञानोपयोग होता है। यहां ज्ञानोपयोग का वर्णन करने के लिये उससे पूर्वभावी दर्शनोपयोग का भी कथन किया गया है।

ज्ञान हो चुका था, उसमें विशेष का निश्चय हो जाना अवाय है। जैसे—'यह मनुष्य दक्षिणी ही है।'

धारणा का स्वरूप

स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ॥ १० ॥

अर्थ—अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तब वही अवाय, धारणा कहलाता है।

विवेचन—धारणा का अर्थ सस्कार है। हृदय-पटल पर यह ज्ञान इस प्रकार अकित हो जाता है कि कालान्तर मे भी वह जागृत हो सकता है। इसी ज्ञान से स्मरण होता है।

ईहा और संशय का अन्तर

संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः ॥ ११ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञान संशयपूर्वक होता है अतः वह संशय से भिन्न है।

विवेचन—ईहा ज्ञान में विशेष का निश्चय नहीं होता और संशय भी अनिश्चयात्मक है, ऐसी अवस्था में दोनो मे क्या भेद है? इस प्रश्न का समाधान यहाँ यह किया गया है कि संशय पहले होता है और ईहा बाद मे उत्पन्न होती है अतएव दोनो भिन्न २ हैं। इसके अतिरिक्त—

संशय मे दोनो पलड़े बराबर होते हैं—दक्षिणी और पश्चिमी की दोनो कोटियाँ तुल्य बल वाली होती हैं; ईहा में एक पलड़ा

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २ स्वभाव वाले मालूम होते हैं, वस्तु की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित करते हैं और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अत अवग्रह आदि भिन्न २ है।

विवेचन—अवग्रह आदि का भेद सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन हेतु बताये गये हैं —

(१) पहला हेतु—कभी सिर्फ दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवग्रह—दो ही उत्पन्न होते है, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दर्शन, अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न है। यदि यह अभिन्न होते तो एक साथ पाँचों ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता।

(२) दूसरा हेतु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ मे रहने वाले महा सामान्य को जानता है, फिर अवग्रह अवान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विशेष की ओर झुकता है, अवाय विशेष का निश्चय कर देता है और धारणा में वह निश्चय अत्यन्त दृढ़ बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-नवीन धर्म को जानता है और इससे इनमे भेद सिद्ध होता है।

(३) तीसरा हेतु—पहले दर्शन, फिर अवग्रह आदि इस प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होते है, अतः भिन्न-भिन्न हैं।

दर्शन-अवग्रह आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामयमेव तथैव संवेदनात्; एवंक्रमाविर्भूतनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २ स्वभाव वाले मालूम होते हैं, वस्तु की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित करते हैं और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः अवग्रह आदि भिन्न २ हैं।

विवेचन—अवग्रह आदि का भेद सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन हेतु बताये गये हैं:—

(१) पहला हेतु—कभी सिर्फ दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवग्रह—दो ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दर्शन, अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न हैं। यदि यह अभिन्न होते तो एक साथ पाँचों ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता।

(२) दूसरा हेतु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ में रहने वाले महा सामान्य को जानता है, फिर अवग्रह अवान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विशेष की ओर झुकता है, अवाय विशेष का निश्चय कर देता है और धारणा में वह निश्चय अत्यन्त दृढ़ बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-नवीन धर्म को जानता है और इससे उनमें भेद सिद्ध होता है।

(३) तीसरा हेतु—पहले दर्शन, फिर अवग्रह आदि इस प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः भिन्न-भिन्न हैं।

दर्शन-अवग्रह आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामयमेव तथैव संवेदनात्; एवंक्रमाविर्भूतनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २ स्वभाव वाले मालूम होते हैं, वस्तु की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित करते हैं और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अत: अवग्रह आदि भिन्न २ है।

विवेचन—अवग्रह आदि का भेद सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन हेतु बताये गये है —

(१) पहला हेतु—कभी सिर्फ दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवग्रह—दो ही उत्पन्न होते है, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते है। इससे प्रतीत होता है कि दर्शन, अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न हैं। यदि यह अभिन्न होते तो एक साथ पाँचों ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता।

(२) दूसरा हेतु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न भिन्न सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ मे रहने वाले महा सामान्य को जानता है, फिर अवग्रह अवान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विशेष की ओर झुकता है, अवाय विशेष का निश्चय कर देता है और धारणा में वह निश्चय अत्यन्त दृढ़ बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-नवीन धर्म को जानता है और इससे उनमे भेद सिद्ध होता है।

(३) तीसरा हेतु—पहले दर्शन, फिर अवग्रह आदि इस प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होते है, अतः भिन्न-भिन्न हैं।

दर्शन-अवग्रह आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामयमेव तथैव संवेदनात्ः एवंक्रमाविर्भूतनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अर्थ—कहीं क्रम मालूम नहीं पड़ता क्योंकि यह सब ज्ञान शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं, कमल के सौ पत्तों को छेदने की तरह।

विवेचन—जो वस्तु अत्यन्त परिचित होती है उसमे पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, इत्यादि क्रम का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि वहाँ दर्शन आदि के बिना ही सीधा अवाय या धारणा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वहाँ पर भी पूर्वोक्त क्रम से ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है किन्तु प्रगाढ़ परिचय के कारण वह सब बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण क्रम का अनुभव नहीं होता। एक दूसरे के ऊपर कमल के सौ पत्ते रखकर उनमे नुकीला भाला घुसेड़ा जाय तो वे सब पत्ते क्रम से ही छिदेंगे पर यह मालूम नहीं पड़ पाता कि भाला कब पहले पत्ते में घुसा, कब उससे बाहर निकला, कब दूसरे पत्ते में घुसा आदि। इसका कारण शीघ्रता ही है। जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे सूक्ष्मतर पदार्थ का वेग उससे भी अधिक तीव्र क्यों न होगा?

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥१८॥

अर्थ—जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विवेचन—पारमार्थिक प्रत्यक्ष अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष। यह प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियों और मन से उत्पन्न नहीं होता किन्तु आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी कारण इसे मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने के कारण वस्तुतः परोक्ष है किन्तु लोक में वह प्रत्यक्ष

अर्थ—कहीं क्रम मालूम नहीं पड़ता क्योंकि यह सब ज्ञान शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं, कमल के सौ पत्तों को छेदने की तरह।

विवेचन—जो वस्तु अत्यन्त परिचित होती है उसमें पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, इत्यादि क्रम का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि वहाँ दर्शन आदि के बिना ही सीधा अवाय या धारणा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वहाँ पर भी पूर्वोक्त क्रम से ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है किन्तु प्रगाढ़ परिचय के कारण वह सब बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण क्रम का अनुभव नहीं होता। एक दूसरे के ऊपर कमल के सौ पत्ते रखकर उनमे नुकीला भाला घुसेडा जाय तो वे सब पत्ते क्रम से ही छिदेंगे पर यह मालूम नहीं पड पाता कि भाला कब पहले पत्ते मे घुसा, कब उससे बाहर निकला, कब दूसरे पत्ते मे घुसा आदि। इसका कारण शीघ्रता ही है। जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे सूक्ष्मतर पदार्थ का वेग उससे भी अधिक तीव्र क्यो न होगा ?

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥१८॥

अर्थ—जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विवेचन—पारमार्थिक प्रत्यक्ष अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष। यह प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियों और मन से उत्पन्न नहीं होता किन्तु आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी कारण इसे मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने के कारण वस्तुत परोक्ष है किन्तु लोक में वह प्रत्यक्ष

विवेचन—यहाँ अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए उसके उत्पादक कारण और उसके विषय का उल्लेख किया गया है।

अवधिज्ञान के उत्पादक दो कारण हैं—अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण। अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है और देवभव और नरकभव या तपश्चरण आदि गुण बहिरंग कारण हैं। देवभव या नरकभव से जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं और तपश्चर्या आदि से होने वाला अवधिज्ञान गुणप्रत्यय कहलाता है। दोनों प्रकार के इन ज्ञानों में अन्तरंग कारण समान रूप से होता है। देवों और नारकी जीवों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। मगर सब देवों और नारकों के समान सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों को यह ज्ञान नहीं होता।

अवधिज्ञान सिर्फ रूपी पदार्थों को जानता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले पदार्थ को रूपी कहते हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है।

मन पर्याय ज्ञान का स्वरूप

संयमविशुद्धिनिबन्धनाद्, विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम् ॥२२॥

अर्थ—जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है, तथा मन.पर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी बात को जान लेता है उसे मन.पर्याय ज्ञान कहते हैं।

विवेचन—संयम की विशुद्धता मन'पर्यायज्ञान का बहिरंग

अर्हन्त ही सर्वज्ञ है

तद्वानर्हन्निर्दोषत्वात् ॥२४॥

निर्दोषोऽसौ प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात् ॥२५॥

तदिष्टस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात्, तद्वाचस्तेनाविरोधसिद्धिः ॥२६॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान ही केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) हैं क्योंकि वे निर्दोष हैं ॥

अर्हन्त भगवान निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण से विरुद्ध नहीं है ॥

अर्हन्त भगवान के वचन प्रमाण से विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि उनका (स्याद्वाद) मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता ।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में केवलज्ञान का विधान करके यहाँ अर्हन्त भगवान् को ही केवलज्ञानी सिद्ध किया गया है । अर्हन्त भगवान् को केवली सिद्ध करने के लिए निर्दोपत्व हेतु दिया है । निर्दोपत्व हेतु को सिद्ध करने के लिए 'प्रमाणाविरोधि वचन' हेतु दिया है और इस हेतु को सिद्ध करने के लिए 'अर्हन्त भगवान् के मत की अबाधितता' हेतु दिया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये—

(१) अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोप है, जो सर्वज्ञ नहीं होता वह निर्दोप नहीं होता, जैसे हम सब लोग । (व्यतिरेकी हेतु)

(२) अर्हन्त निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण से अविरुद्ध हैं। जो निर्दोष नहीं होते उनके वचन प्रमाण से अविरुद्ध नहीं होते, जैसे हम सब लोग। (व्यति० हेतु)

(३) अर्हन्त के वचन प्रमाण से अविरुद्ध हैं, क्योंकि उनका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता। जिसका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता वह प्रमाण से अविरुद्ध वचन वाला होता है। जैसे रोग के विषय में कुशल वैद्य।

उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ हैं, अन्य कपिल, सुगत आदि नहीं। साथ ही जो लोग जगत्कर्ता ईश्वर को ही सर्वज्ञ मानते हैं उनका भी खण्डन होगया।

कवलाहार और केवलज्ञान

न च कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वं, कवलाहार-सर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ॥२७॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान् कवलाहारी होने से असर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि कवलाहार और सर्वज्ञता में विरोध नहीं है।

विवेचन—दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि कवलाहार करने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इस मान्यता का विरोध करते हुए यहाँ दोनों का अविरोध बताया गया है। दोनों में विरोध न होने से कवलाहार करने पर भी अर्हन्त सर्वज्ञ हो सकते हैं।
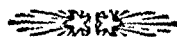
तृतीय परिच्छेद

परोक्ष प्रमाण का निरूपण
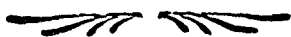
परोक्ष प्रमाण का लक्षण

अस्पष्टं परोक्षम् ॥१॥

अर्थ—अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

विवेचन—प्रमाण विशेष के स्वरूप में प्रमाण सामान्य के स्वरूप का अध्याहार है, अत परोक्ष प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार होगा.—जो ज्ञान स्व-पर का निश्चायक होते हुए अस्पष्ट होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। स्पष्टता का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में किया गया है, उसका न होना अस्पष्टता है।

परोक्ष प्रमाण के भेद

स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्च प्रकारम् ॥२॥

अर्थ—परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है.—(१) स्मरण प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम

स्मरण का लक्षण

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ॥३॥

र्थ—प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, तिर्यक् सामान्य अथवा ऊर्ध्वता सामान्य को जानने वाला, जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है॥

जैसे—यह गाय उस गाय के समान है, गवय (रोझ) गाय के समान होता है, यह वही जिनदत्त है, आदि ॥

विवेचन—किसी के मुँह से हमने सुना था कि गवय, गाय समान होता है। कुछ दिन बाद हमें गवय दिखाई दिया। उसे खते ही हमें 'गवय गाय के सदृश होता है,' इस वाक्य का स्मरण आ। इस अवस्था में गवय का प्रत्यक्ष होरहा है और पहले सुने हुए क्य का स्मरण होरहा है। इन दोनों ज्ञानों के मेल से जो ज्ञान होता वही प्रत्यभिज्ञान है।

कल जिनदत्त को देखा था, आज वह फिर सामने आया। ब इस समय उसका प्रत्यक्ष होता है और कल देखने का स्मरण ता है। बस, इन प्रत्यक्ष और स्मरण के मिलने से 'यह वही जिन-त्त है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है।

इन दो उदाहरणों को ध्यान से देखो तो ज्ञात होगा कि एक सदृशता प्रतीत होती है और दूसरे में एकता। सदृशता को जानने ाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहलाता है, एकता को जानने वाला एकत्व-त्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार 'यह उससे विलक्षण है', 'यह समसे बड़ा या छोटा है' इत्यादि अनेक प्रकार के प्रत्यभिज्ञान होते हैं।

नैयायिक लोग सादृश्य को जानने वाला उपमान नामक माण अलग मानते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो एकता, विलक्षणता, आदि को जानने वाले प्रमाण भी अलग-अलग मानने

तर्क ज्ञान को अगर प्रमाण न माना जाय तो अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तर्क से धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर ही धूम से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। अतएव अनुमान को प्रमाण मानने वालों को तर्क भी प्रमाण मानना चाहिए।

अनुमान

अनुमानं द्विप्रकारं—स्वार्थं परार्थञ्च ॥९॥

अर्थ—अनुमान दो प्रकार का है— (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान

स्वार्थानुमान का स्वरूप

तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ॥१०॥

अर्थ—हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है।

विवेचन—जब हेतु (धूम) प्रत्यक्ष से दिखाई देता है और अविनाभाव सम्बन्ध का (जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है—इस प्रकार की व्याप्ति का) स्मरण होता है तब साध्य (अग्नि) का ज्ञान हो जाता है। इसी ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यह अनुमान दूसरे के उपदेश के बिना—अपने आप ही होता है इस लिए इसे [illegible] ते हैं।

हेतु का स्वरूप

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥११॥

अर्थ—साध्य के बिना निश्चित रूप से न होना, यह लक्षण जिसमें पाया जाय वह हेतु है।

विवेचन—साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है, अर्थात् जो साध्य के बिना कदापि सम्भव न हो वह हेतु कहलाता है। जैसे—अग्नि (साध्य) के बिना धूम कदापि संभव नहीं है अतएव धूम हेतु है।

मतान्तर का खण्डन

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥१२॥

तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवात् ॥१३॥

अर्थ—तीन लक्षण या पाँच लक्षण वाला हेतु नहीं है। क्योंकि वह हेत्वाभास भी हो सकता है।

विवेचन—बौद्ध लोग पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षास यह तीन लक्षण जिसमें पाये जाएँ उसे हेतु मानते हैं। नैयायिक लो इन तीन में असत्प्रतिपक्षता और अबाधितविषयता को सम्मिलि करके पाँच लक्षण वाला हेतु मानते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है:-

(१) पक्षधर्मत्व—हेतु पक्ष में रहे
(२) सपक्षसत्व—हेतु सपक्ष (अन्वय दृष्टान्त) में रहे
(३) विपक्षासत्व—हेतु विपक्ष में न रहे

(४) असत्प्रतिपक्षता—हेतु का विरोधी समान बल वाला दूसरा हेतु न हो।

(५) अबाधितविषयता—हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न हो।

वास्तव में बौद्धों और नैयायिकों का हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं है। इसके दो कारण हैं—प्रथम, यह कि इन सब के मौजूद रहने पर भी कोई-कोई हेतु सही नहीं होता, दूसरे, कभी-कभी इनके न होने पर भी हेतु सही होता है। इस प्रकार हेतु के इन दोनों लक्षणों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष विद्यमान हैं।

साध्य का स्वरूप

अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥१४॥

शंकितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीत-वचनम् ॥१५॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृत-ग्रहणम् ॥१६॥

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम् ॥१७॥

अर्थ—जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित न हो और जो वादी को मान्य हो, वह साध्य होता है।

जिसमें शंका हो, जिसे उलटा मान लिया हो अथवा जिस

[illegible] 'अबाधित' कहा है।

[illegible]

[illegible] 'अभीप्सित' कहा है।

विवेचन—जिसे सिद्ध करना हो उसे साध्य कहते हैं। निर्दोष साध्य में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—(१) प्रथम यह कि प्रतिवादी को वह पहले से ही सिद्ध न हो, क्योंकि सिद्ध का सिद्ध करना व्यर्थ है। (२) दूसरी यह कि साध्य में किसी प्रमाण से बाधा न हो, 'अग्नि ठण्डी है' यहाँ अग्नि का ठण्डापन प्रत्यक्ष से बाधित है अतः यह साध्य नहीं हो सकता। (३) तीसरी यह कि जिस वस्तु को वादी सिद्ध करना चाहे वह उसे स्वयं मान्य हो, 'आत्मा नहीं है' यहाँ आत्मा का अभाव जिसे मान्य नहीं है वह आत्मा का अभाव सिद्ध करेगा तो साध्य दूषित कहलायेगा।

साध्य सम्बन्धी नियम

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः ॥१८॥

न हि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥१९॥

आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥२०॥

अर्थ—व्याप्ति ग्रहण करते समय धर्म ही साध्य होता है—धर्मी नहीं, धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती।

जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि की भांति पर्वत धर्मी) की व्याप्ति नहीं है।

अनुमान प्रयोग करते समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मी पर्वत) साध्य होता है। धर्मी का दूसरा नाम पक्ष है और वह ासिद्ध होता है।

विवेचन—यहाँ कब क्या साध्य होना चाहिए, यह बताया ाया है। जब व्याप्ति का प्रयोग करना हो तो 'जहां जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है' इस प्रकार अग्नि धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए। यदि धर्म को ही साध्य न बनाकर धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति यों बनेगी—जहां-जहां धूम है वहां-वहां पर्वत में अग्नि है।' पर ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है। अतएव व्याप्ति के समय धर्मी (पक्ष) को छोड़ कर धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए।

इससे विपरीत, अनुमान का प्रयोग करते समय अग्नि धर्म से युक्त धर्मी (पर्वत) को ही साध्य बनाना चाहिए। उस समय 'अग्नि है, क्योंकि धूम है' इतना कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना इस अनुमान का प्रयोजन नहीं है किन्तु पर्वत में अग्नि सिद्ध करना इष्ट है। अतएव अनुमान-प्रयोग के समय धर्म से युक्त पक्ष साध्य बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पर्वत प्रसिद्ध है, अग्नि भी सिद्ध है, किन्तु अग्निमान् पर्वत सिद्ध नहीं है, अतः वही साध्य होना चाहिए।

धर्मी की सिद्धि

धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद्विकल्पतः, कुत्रचित्प्रमाण
क्वापि विकल्पप्रमाणाभ्याम् ॥२१॥

यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्
जवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥२२॥

अर्थ—धर्मी की प्रसिद्धि कहीं विकल्प से होती है, क
प्रमाण से होती है और कहीं विकल्प तथा प्रमाण दोनों से होती है।

जैसे—सर्वज्ञ है, पर्वत की यह गुफा अग्निवाली है, श
अनित्य है।

विवेचन—प्रमाण से जिस पक्ष का न अस्तित्व सिद्ध हो और
न नास्तित्व सिद्ध हो—किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के
लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी
कहलाता है। जैसे—सर्वज्ञ। सर्वज्ञ का अब तक न अस्तित्व सिद्ध
है और न नास्तित्व ही। अतः वह विकल्पसिद्ध धर्मी है। प्रत्यक्ष या
अन्य किसी प्रमाण से जिसका अस्तित्व निश्चित हो वह प्रमाणसिद्ध
धर्मी कहलाता है। जैसे पर्वत की गुफा। पर्वत की गुफा प्रत्यक्ष
प्रमाण से सिद्ध है। 'शब्द अनित्य है' यहाँ 'शब्द' पक्ष उभयसिद्ध है
—वर्त्तमानकालीन शब्द प्रत्यक्ष से और भूत-भविष्यत् कालीन विकल्प
से सिद्ध है।

परार्थानुमान का स्वरूप

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥२३॥

अर्थ—पक्ष और हेतु का वचन परार्थानुमान है। उसे उपचार से अनुमान कहते हैं।

विवेचन—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है। मान लीजिये देवदत्त को धूम देखने से अग्नि का अनुमान हुआ। वह अपने साथी जिनदत्त से कहता है—'देखो, पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है।' तो देवदत्त का यह शब्द-प्रयोग परार्थानुमान है, क्योंकि वह परार्थ है अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने के लिए बोला गया है।

प्रत्येक प्रमाण ज्ञान-स्वरूप होता है पर परार्थानुमान शब्द-स्वरूप है। शब्द जड हैं अत परार्थानुमान भी जड़रूप होने से प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु इन शब्दों को सुनकर जिनदत्त को स्वार्थानुमान उत्पन्न होता है। अतएव परार्थानुमान स्वार्थानुमान का कारण है। कारण को उपचार से कार्य मान कर परार्थानुमान को भी अनुमान मान लिया है।

पक्ष-प्रयोग की आवश्यकता

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धिताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥२४॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥२५॥

अर्थ—साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए, उपनय की भाँति पक्ष का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिए।

धर्मी की सिद्धि

धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद्विकल्पतः, कुत्रचित्प्रमाणतः, क्वापि विकल्पप्रमाणाभ्याम् ॥२१॥

यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥२२॥

अर्थ—धर्मी की प्रसिद्धि कहीं विकल्प से होती है, कहीं प्रमाण से होती है और कहीं विकल्प तथा प्रमाण दोनों से होती है।

जैसे—सर्वज्ञ है, पर्वत की यह गुफा अग्निवाली है, शब्द अनित्य है।

विवेचन—प्रमाण से जिस पक्ष का न अस्तित्व सिद्ध हो और न नास्तित्व सिद्ध हो—किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहलाता है। जैसे—सर्वज्ञ। सर्वज्ञ का अब तक न अस्तित्व सिद्ध है और न नास्तित्व ही। अत. वह विकल्पसिद्ध धर्मी है। प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण से जिसका अस्तित्व निश्चित हो वह प्रमाणसिद्ध धर्मी कहलाता है। जैसे पर्वत की गुफा। पर्वत की गुफा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। 'शब्द अनित्य है' यहाँ 'शब्द' पक्ष उभयसिद्ध है—वर्तमानकालीन शब्द प्रत्यक्ष से और भूत-भविष्यत् कालीन विकल्प से सिद्ध है।

परार्थानुमान का स्वरूप

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥२३॥

अर्थ—पक्ष और हेतु का वचन परार्थानुमान है। उसे उपचार अनुमान कहते हैं।

विवेचन—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान । मान लीजिये देवदत्त को धूम देखने से अग्नि का अनुमान आ। वह अपने साथी जिनदत्त से कहता है—'देखो, पर्वत में अग्नि , क्योंकि धूम है।' तो देवदत्त का यह शब्द-प्रयोग परार्थानुमान है, योंकि वह परार्थ है अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने के लिए बोला या है।

प्रत्येक प्रमाण ज्ञान-स्वरूप होता है पर परार्थानुमान शब्द-वरूप है। शब्द जड़ हैं अतः परार्थानुमान भी जड़रूप होने से माण नहीं हो सकता। किन्तु इन शब्दों को सुनकर जिनदत्त को वार्थानुमान उत्पन्न होता है। अतएव परार्थानुमान स्वार्थानुमान का तारण है। कारण को उपचार से कार्य मान कर परार्थानुमान को भी अनुमान मान लिया है।

पक्ष-प्रयोग की आवश्यकता

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धिताप्रसिद्धये हेतोरुप-संहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥२४॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥२५॥

अर्थ—साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए, उपनय की भाँति पक्ष का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिए।

तीन प्रकार के हेतु का प्रयोग करके ही उनका समर्थन करने वाला, ऐसा कौन होगा जो पक्ष का प्रयोग करना स्वीकार न करे ?

विवेचन—बौद्ध पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते। उनके मत का विरोध करने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि अगर पक्ष का प्रयोग न किया जायगा तो साध्य कहाँ सि[द्ध] किया जा रहा है, यह मालूम नहीं पडेगा। साध्य का नियत पक्ष [के] साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष अवश्य बोलना चाहिए।

'पर्वत मे अग्नि है, क्योंकि धूम है, जहाँ धूम होता है वा[हाँ] अग्नि होती है, जैसे पाकशाला, इस पर्वत में भी धूम है।' इ[स] अनुमान में 'इस पर्वत में भी धूम है' यह उपनय है। यहाँ हेतु [को] दोहराया गया है। हेतु को दोहराने का प्रयोजन यह है कि साधन [का] नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताया जाय। इसी प्रकार साध्य [का] नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष भी बोलना चाहिए

जैसे हेतु का कथन करने के बाद ही उसका समर्थन कि[या] जा सकता है—हेतु का प्रयोग किये विना समर्थन नहीं हो सकत[ा] उसी प्रकार पक्ष का प्रयोग किये-विना साध्य के आधार का निश्चि[त] ज्ञान नहीं हो सकता। (बौद्धों ने स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि यह तीन प्रकार के हेतु माने हैं)

परार्थ प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थ प्रत्यक्[ष]
[मु]च्यते ॥२६॥
यथा-पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरण[भारिणीं]
जिनपतिप्रतिमामिति ॥२७॥

त्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाले
क्योंकि उन वचनों में दूसरे को प्रत्यक्ष

सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के
षणों को धारण करने वाली जिन भगवान

अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा
उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को
प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान का
प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह परार्थ
त्यक्ष भी शब्दात्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अवयव

पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टान्तादिवचनम् ॥२८॥

अर्थ—पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अवयव
ही दूसरों को समझाने के कारण हैं, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विवेचन—परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में अनेक
मत है। सांख्य लोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अवयव मानते
हैं, मीमांसक उपनय के साथ चार अवयव मानते हैं, और यौग लोग
निगमन को इनमें सम्मिलित करके पाँच अवयव मानते हैं।

इन सब मतों का निरसन करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही
अवयवों का समर्थन किया गया है, क्योंकि दूसरे को समझाने के

तीन प्रकार के हेतु का प्रयोग करके ही उनका समर्थन करने वाला, ऐसा कौन होगा जो पक्ष का प्रयोग करना स्वीकार न करे ?

विवेचन—बौद्ध पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते। उनके मत का विरोध करने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि अगर पक्ष का प्रयोग न किया जायगा तो साध्य कहाँ सिद्ध किया जा रहा है, यह मालूम नहीं पड़ेगा। साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष अवश्य बोलना चाहिए।

'पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला, इस पर्वत में भी धूम है।' इस अनुमान में 'इस पर्वत में भी धूम है' यह उपनय है। यहाँ हेतु को दोहराया गया है। हेतु को दोहराने का प्रयोजन यह है कि साधन का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताया जाय। इसी प्रकार साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष भी बोलना चाहिए।

जैसे हेतु का कथन करने के बाद ही उसका समर्थन किया जा सकता है—हेतु का प्रयोग किये बिना समर्थन नहीं हो सकता, उसी प्रकार पक्ष का प्रयोग किये बिना साध्य के आधार का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। (बौद्धों ने स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, यह तीन प्रकार के हेतु माने हैं)

परार्थ प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं, परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥२६॥

यथा-पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमामिति ॥२७॥

प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाले
क्योंकि उन वचनों से दूसरे को प्रत्यक्ष

सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के
रूपणों को धारण करने वाली जिन भगवान

अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा
इसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को
प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान का
प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह परार्थ
प्रत्यक्ष भी शब्दात्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अवयव

पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टान्तादिवचनम् ॥२८॥

अर्थ—पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अवयव ही दूसरों को समझाने के कारण हैं, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विवेचन—परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। सांख्य लोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अवयव मानते हैं, मीमांसक उपनय के साथ चार अवयव मानते हैं, और यौग लोग निगमन को इनमें सम्मिलित करके पाँच अवयव मानते हैं।

इन सब मतों का निरसन करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवों का समर्थन किया गया है, क्योंकि दूसरे को समझाने के

लिए यही पर्याप्त हैं। इस सम्बन्ध का विशेष विचार आगे
जायगा।

हेतु प्रयोग के भेद

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥२९॥
सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हे
नुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥३०॥

यथा—कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानु
धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥३१॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्र
स्यैकत्रानुपयोगः ॥३२॥

अर्थ—तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से हेतु दो
प्रकार से बोला जाता है॥

साध्य के होने पर ही हेतु का होना (बताना) तथोपपत्ति
है और साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना (बताना) अन्यथा
नुपपत्ति है॥

जैसे—यह पाकशाला अग्निवाली है, क्योंकि अग्नि के होने
पर ही धूम हो सकता है, या क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं हो
सकता॥

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति में से किसी एक का प्रयो
करने से ही साध्य का ज्ञान होजाता है अतः एक ही जगह दोनों का
प्रयोग करना व्यर्थ है॥

विवेचन—यहाँ हेतु के प्रयोग की द्विविधता बताई गई है। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुओं में अर्थका भेद नहीं है, केवल एक में विधि रूप से प्रयोग है और दूसरे मे निषेध रूप से। दोनों का आशय एक है अतएव किसी भी एक का प्रयोग करना पर्याप्त है. दोनो को एक साथ बोलना अनुपयोगी है।

दृष्टान्त अनुमान का अवयव नहीं है

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

न च हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

अर्थ—दृष्टान्त दूसरे को समझाने के लिए नहीं है, क्योंकि दूसरे को समझाने में पक्ष और हेतु के प्रयोग का ही व्यापार देखा जाता है॥

दृष्टान्त, हेतु के अविनाभाव का निर्णय करने के लिये भी नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त तर्क प्रमाण से अविनाभाव का निर्णय होता है॥

दृष्टान्त, निश्चित एक विशेष स्वभाव वाला होता है

प्रमाणान्तर में समावेश

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अन्तर्व्याप्ति द्वारा हेतु से साध्य का ज्ञान हो जाने पर भी या न होने पर भी बहिर्व्याप्ति का कथन करना व्यर्थ है।

विवेचन—अन्तर्व्याप्ति का और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप आगे बताया जायगा। इस सूत्र का आशय यह है कि अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान करा देता है तब बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। और अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान नहीं कराता तो भी बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि बहिर्व्याप्ति प्रत्येक दशा में व्यर्थ है।

अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः; अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥ ३८ ॥

यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति; अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थानमिति च ॥ ३९ ॥

अर्थ—पक्ष में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति होना अन्तर्व्याप्ति है और पक्ष के बाहर व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति ॥

जैसे—वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सत्

दृष्टान्त का निरूपण

प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च ॥४४॥

यत्र साधनधर्मसत्तायाम् साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः ॥४५॥

यथा—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसः ॥४६॥
यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥४७॥

यथा-अग्न्यभावे न भवत्येव धूमो यथा जलाशये ॥४८॥

अर्थ—अविनाभाव बताने के स्थान को दृष्टान्त कहते हैं॥

दृष्टान्त दो प्रकार का है—(१) साधर्म्य दृष्टान्त और (२) वैधर्म्य दृष्टान्त ॥

जहां साधन के होने पर साध्य का होना बताया जाय वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई घर।

जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अवश्य अभाव दिखाया जाता है वह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

जैसे—जहां अग्नि का अभाव होता है वहां धूम का अभाव होता है जैसे तालाब।

विवेचन—व्याप्ति को जिस स्थान पर दिखाया जाय वह स्थान दृष्टान्त है। अन्वयव्याप्ति को दिखाने का स्थल साधर्म्य दृष्टान्त या अन्वय दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में 'रसोईघर'। रसोईघर में साधन (धूम) के होने पर साध्य (अग्नि) का सद्भाव दिखाया गया है। व्यतिरेक व्याप्ति को बताने का स्थान वैधर्म्य या व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में 'तालाब'। तालाब में साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया गया है।

किसके सद्भाव में किसका सद्भाव होता है और किसके अभाव में किसका अभाव होता है, यह ध्यान में रखना चाहिये।

उपनय

हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः ॥४९॥

यथा-धूमश्चात्र प्रदेशे ॥५०॥

अर्थ—पक्ष में हेतु का उपसहार करना (दोहराना) उपनय है। जैसे—इस जगह भी धूम है।

विवेचन—पहले हेतु का प्रयोग करके पक्ष में हेतु का सद्भाव देखा दिया जाता है, फिर व्याप्ति और उदाहरण बोलने के पश्चात् दूसरी वार कहा जाता है—'इस जगह भी धूम है।' यही पक्ष में हेतु का दोहराना है और यही उपनय है।

निगमन

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥५१॥

यथा—तस्मादग्निरत्र ॥५२॥

अर्थ—साध्य का पक्ष में दोहराना निगमन कहलाता है जैसे—'इसलिए यहाँ अग्नि है।'

विवेचन—पक्ष में साध्य का होना सर्वप्रथम बताया गया है, फिर व्याप्ति आदि बोलने के बाद अन्त में दूसरी बार कहा जाता है 'इसलिये यहाँ अग्नि है' साध्य का यह दोहराना निगमन है।

पाँच अवयव वाला अनुमान इस प्रकार का है—
(१) पर्वत में अग्नि है (पक्ष)
(२) क्योंकि पर्वत में धूम है (हेतु)
(३) जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे-पाकशाला (दृष्टान्त)
(४) इस पर्वत में भी धूम है (उपनय)
(५) इसलिए पर्वत में अग्नि है (निगमन)

अवयव संज्ञा

एते पक्षप्रयोगादयः पञ्चाप्यवयवसंज्ञया कीर्त्यन्ते ॥५३॥

अर्थ—पक्ष, हेतु आदि पाँचों अनुमान के अंग 'अवयव' कहलाते हैं।

हेतु के भेद

उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः, उपलब्धि-अनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात् ॥५४॥

उपलब्धिर्विधिनिषेधयोः सिद्धिनिबन्धनमनुपलब्धिश्च ॥५५॥

अर्थ—अन्यथानुपपत्तिरूप पूर्वोक्त हेतु दो प्रकार का है—(१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप।

उपलब्धिरूप हेतु से विधि और निषेध दोनों सिद्ध होते हैं और अनुपलब्धिरूप हेतु से भी दोनों सिद्ध होते हैं।

विवेचन—विधि-सद्भावरूप हेतु को उपलब्धि हेतु कहते हैं और निषेध अर्थात् असद्भावरूप हेतु अनुपलब्धि कहलाता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि उपलब्धि हेतु विधिसाधक और अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक ही होता है। इस मान्यता का विरोध करते हुए यहाँ दोनों प्रकार के हेतुओं को दोनों का साधक बताया गया है। प्रत्येक हेतु जैसे अपने सम्बन्धी का सद्भाव सिद्ध करता है उसी प्रकार अपने विरोधी का अभाव भी सिद्ध कर सकता है।

विधि-निषेध की व्याख्या

विधिः सदंशः ॥५६॥

प्रतिषेधोऽसदंश ॥५७॥

अर्थ—सत् अंश को विधि कहते हैं।
असत् अंश को प्रतिषेध कहते हैं।

विवेचन—प्रत्येक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म पाये जाते हैं। अतएव सत्त्व वस्तु का एक अंश (धर्म) है और असत्त्व भी एक अंश है। सत्त्व और असत्त्व सर्वथा पृथक् पदार्थ नहीं हैं। इसीलिए सूत्रों में 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है। वैशेषिक लोग सत्त्व (सामान्य) और अभाव को अलग पदार्थ मानते हैं, यहाँ उनकी इस मान्यता का परोक्षरूप में विरोध किया गया है।

प्रतिषेध के भेद

स चतुर्धा–प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावो
ऽत्यन्ताभावश्च ॥५८॥

अर्थ—प्रतिषेध (अभाव) चार प्रकार का है—प्रागभाव,
प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव का स्वरूप

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः॥५९॥
यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः॥६०॥

अर्थ—जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति
वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है।

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने वाले
घट का प्रागभाव मिट्टी का पिण्ड है।

विवेचन—किसी भी कार्य की उत्पत्ति होने से पहले ...
जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। यहाँ सद्रूप मिट्टी के
पिण्ड को घट का प्रागभाव बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है
कि, अभाव एकान्त असत्तारूप (तुच्छाभावरूप) नहीं है, ...
पदार्थान्तर रूप है। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रध्वंसाभाव का स्वरूप

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥६१॥

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो ...
कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस पदार्थ के उत्पन्न होने पर कार्य का अवश्य विनाश हो जाता है वह पदार्थ उस कार्य का प्रध्वंसाभाव है॥

जैसे—टुकड़ों का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नष्ट हो जाने वाले घट का प्रध्वंसाभाव टुकड़ों का समूह है॥

इतरेतराभाव का स्वरूप

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः॥ ६३॥

यथा स्तम्भस्वभावात् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः॥ ६४॥

अर्थ—एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न पाया जाना इतरेतराभाव है।॥

जैसे—स्तम्भ का कुम्भ मे न पाया जाना।

विवेचन—स्तम्भ और कुम्भ—दोनों पदार्थ एक साथ सद्भाव रूप हैं, किन्तु स्तम्भ कुम्भ नहीं है और कुम्भ स्तम्भ नहीं है। इस प्रकार दोनों में परस्पर का अभाव है। यही अभाव इतरेतराभाव, अन्योन्याभाव या परस्पराभाव कहलाता है।

अत्यन्ताभाव का स्वरूप

कालत्रयाऽपेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः॥ ६५॥

यथा चेतनाचेतनयोः॥ ६६॥

अर्थ—त्रिकाल सम्बन्धी तादात्म्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं।

विवेचन—एक द्रव्य त्रिकाल में भी दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। जैसे चेतन कभी अचेतन न हुआ, न है और न होगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में, दूसरे द्रव्य का त्रैकालिक अभाव पाया जाता है वही अत्यन्ताभाव है। एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायों का पारस्परिक अभाव इतरेतराभाव कहलाता है और अनेक द्रव्यों का पारस्परिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। प्रागभाव अनादि सान्त है प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त है, इतरेतराभाव सादि सान्त है और अत्यन्ताभाव अनादि अनन्त है।

उपलब्धि हेतु के भेद

उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्च ॥६७

अर्थ—उपलब्धि हेतु के भी दो भेद हैं—(१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि।

विवेचन—साध्य से अविरुद्ध हेतु की उपलब्धि अविरुद्धोपलब्धि और साध्य से विरुद्ध हेतु की उपलब्धि विरुद्धोपलब्धि है।

विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के भेद

तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा ॥६८॥

अर्थ—विधि रूप साध्य को सिद्ध करने वाली अविरुद्धोपलब्धि छह प्रकार की है।

भेदों का निर्देश

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिः ॥ ६९ ॥

अर्थ—(१) साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि, (२) साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि, (३) साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि (४) साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि (५)साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि (६)साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धि, विधिसाधक साध्याविरुद्ध-उपलब्धि के यह छह भेद हैं।

कारण हेतु का समर्थन

तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया: यत्र शक्तेरप्रतिस्खलनमपरकारणसाकल्यञ्च ॥७०॥

अर्थ—रात्रि मे चूसे जाने वाले आम आदि फल के रस से, उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान करके, फिर उससे रूप आदि का अनुमान मानने वालों ने(बौद्धो ने) कोई कारण हेतु रूप मे स्वीकार किया ही है. जहा हेतु की शक्ति का प्रतिघात न होगया हो और दूसरे सहकारी कारणों की पूर्णता हो।

विवेचन—बौद्ध, उपलब्धि के स्वभाव और कार्य—यह दो ही भेद मानते है, कारण आदि को उन्होंने हेतु नही माना। वे कहते हैं—कार्य का कारण के साथ अविनाभाव है, कारण का कार्य के साथ नहीं, क्योंकि कार्य विना कारण के नहीं हो सकता, पर कारण तो कार्य के विना भी होता है। अतएव कारण को हेतु नहीं मानना चाहिए।' बौद्धों के मत का यहाँ खण्डन करने के लिए दो बातें कही गई हैं.—

(१) प्रत्येक कारण हेतु नहीं होता किन्तु जिस कारण का कार्योत्पादक सामर्थ्य मणि-मन्त्र आदि प्रतिबन्धको द्वारा रुका

सकता है, पूर्व रूप से उसका अनुमान करने की आवश्यकता क्यों बताई ?

समाधान—सूत्र में 'तमस्विन्याम्' पद है। उसका अर्थ है अंधेरी रात। अन्धेरी रात कहने का प्रयोजन यह है कि रस का तो जिह्वा-इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो रहा हो पर रूप का प्रत्यक्ष न होता हो—तब रूप अनुमान से ही जाना जा सकेगा।

पूर्वचर-उत्तरचर का समर्थन

पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ, तयोः कालव्यवहितावनुपलम्भात् ॥ ७१ ॥

विवेचन—पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव और कार्य हेतु मे समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव और कार्य हेतु काल का व्यवधान होने पर नहीं होते।

विवेचन—जहाँ तादात्म्य सम्बन्ध हो वहाँ स्वभाव हेतु होता है और जहाँ तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो वहाँ कार्य हेतु होता है। तादात्म्य सम्बन्ध समकालीन वस्तुओं मे होता है और कार्य-कारण सम्बन्ध अव्यवहित पूर्वोत्तर क्षणवर्ती धूम अग्नि आदि में होता है। इस प्रकार समय का व्यवधान दोनों मे नहीं पाया जाता। किन्तु पूर्वचर और उत्तरचर में समय का व्यवधान होता है अतः इन दोनों का स्वभाव अथवा कार्य हेतु मे समावेश नहीं हो सकता।

व्यवधान में कार्यकारणभाव का अभाव

न चातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः प्रबोधोत्पातौ प्रति कारणत्वं, व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वादिति ॥

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था, कुलालस्येव कलशं प्रति ॥ ७३ ॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति ॥ ७४ ॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—अतीत जाग्रत-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (सोकर जागने के पश्चात होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी मरण अरिष्ट (अरुन्धती तारा न दीखना आदि) का कारण नहीं है, क्योंकि वे समय से व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अरिष्ट उत्पन्न करने में व्यापार नहीं करते ॥

जो कार्य की उत्पत्ति में स्वयं व्यापार करता है वही कारण कहलाता है, जैसे कुम्भार घट में कारण है।

समय का व्यवधान होने पर भी अतीत जाग्रत अवस्था का ज्ञान और मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार करते हैं, यही कल्पना न्यायसंगत नहीं है, अन्यथा सब गोटाला हो जायगा ॥

(फिर तो) परम्परा से व्यवहित अन्यान्य पदार्थों के व्यापार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ॥

विवेचन—पहले बताया जा चुका है कि जहाँ समय का व्यवधान होता है, वहाँ कार्य कारण का भाव नहीं होता। इसी सिद्धान्त का यहाँ समर्थन किया गया है।

शंका—जागते समय हमें देवदत्त का ज्ञान हुआ। रात में हम सो गये। दूसरे दिन हमें देवदत्त का ज्ञान रहता है। ऐसी अवस्था में सोने से पहले का ज्ञान सोने के बाद के ज्ञान का कारण है। इसके अतिरिक्त छह महीने पश्चात् होने वाला मरण अरुन्धती का न दीखना आदि अरिष्टों का कारण होता है। यहाँ दोनों जगह समय का व्यवधान होने पर भी कार्य कारण भाव है।

समाधान—कारण वही कहलाता है जो कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करता है। जैसे कुम्भार घट की उत्पत्ति में व्यापार करता है इसीलिए उसे घट का कारण माना जाता है। भूतकालीन जाग्रत अवस्था का ज्ञान और भविष्यकालीन मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करते, अत: उन्हें कारण नहीं माना जा सकता।

शंका—भूतकालीन जाग्रत-अवस्था के ज्ञान का और भविष्यकालीन मरण का प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार होता है, यह मान लेने में क्या हानि है?

समाधान—व्यापार वही करेगा जो विद्यमान होगा। जो नष्ट हो चुका है अथवा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह अविद्यमान या असत् है। असत् किसी कार्य की उत्पत्ति में व्यापार नहीं कर सकता। और व्यापार किए बिना ही कारण मान लेने पर चाहे जिसे कारण मान लेना पड़ेगा।

सहचर हेतु का समर्थन

सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु - प्रवेशः ॥ ७६ ॥

विवेचन—यहाँ अनुमान के पाँच अवयव बताये गये हैं—'परिणतिमान्' साध्य है, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु है, 'स्तम्भ' साधर्म्य दृष्टान्त और 'वान्ध्येय' वैधर्म्य दृष्टान्त है, 'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होता है' उपनय है, 'अत वह परिणतिमान् है' निगमन है।

जो अल्प देश मे रहे वह व्याप्य कहलाता है और जो अधिक देश मे रहे वह व्यापक कहलाता है। जैसे परिणतिमत्व मेघ, इन्द्र-धनुष और घट-पट आदि मे रहता है पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' सिर्फ घट-पट आदि में रहता है मेघ आदि प्राकृतिक पदार्थों में नहीं रहता। इस कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व और परिणतिमत्व व्यापक है। यहाँ परिणतिमत्व साध्य से अविरुद्ध प्रयत्नानन्तरीयकत्व रूप व्याप्य हेतु की उपलब्धि है।

अविरुद्ध कार्योपलब्धि

अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो, धूमसमुपलम्भात्, इति कार्यस्य ॥ ७८ ॥

अर्थ—इस गिरिनिकुञ्ज में अग्नि है, क्योंकि धूम है यह अविरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण।

विवेचन—यहाँ अग्नि साध्य से अविरुद्ध धूम-कार्य-की उपलब्धि है।

अविरुद्ध कारणोपलब्धि

भविष्यति वर्षं, तथाविधवारिवाहविलोकनात्, इति कारणस्य ॥ ७९ ॥

अर्थ—इस आम में रूप विशेष है, क्योंकि आस्वाद्यमान रस विशेष है, यह अविरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण है। (यहाँ साध्य-रूप-से अविरुद्ध सहचर-रस की उपलब्धि है)

विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्तधा ॥ ८३ ॥

अर्थ—निषेध सिद्ध करनेवाली विरुद्धोपलब्धि सात प्रकार की है।

स्वभाव विरुद्धोपलब्धि

तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८४ ॥

यथा नास्त्येव सर्वथैकान्तोऽनेकान्तस्योपलम्भात् ॥८५॥

अर्थ—विरुद्धोपलब्धि का पहला भेद स्वभावविरुद्धोपलब्धि है ॥

जैसे—सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्त की उपलब्धि होती है ॥

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य है—सर्वथा एकान्त। उससे विरुद्ध अनेकान्तरूप स्वभाव की उपलब्धि है। अतएव यह निषेधसाधक साध्यविरुद्ध स्वभावोपलब्धि हेतु है।

विरुद्धोपलब्धि के भेद

प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षट् ॥ ८६ ॥

अनुपलब्धि के भेद

अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यं—अविरुद्धानुपलब्धिः विरुद्धानुपलब्धिश्च ॥ ९३ ॥

अर्थ—उपलब्धि की तरह अनुपलब्धि भी दो प्रकार की है—(१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि।

निषेधसाधक अविरुद्धानुपलब्धि

तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधाववोधे सप्तप्रकारा ॥९४॥

प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥९५ ॥

अर्थ—निषेध सिद्ध करने वाली अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की है ॥

प्रतिषेध्य से (१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि (२) अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (३) अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि (४) अविरुद्धकारणानुपलब्धि (५) अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि (६) अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि ७) अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि ॥

अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि-

स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् ॥ ९६ ॥

अर्थ—इस भूतल पर कुम्भ नहीं है, क्योंकि वह उपलब्ध होने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है।

अर्थ—एक मुहूर्त पहले पूर्वभद्रपदा का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी उत्तरभद्रपदा का उदय नहीं है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य पूर्वभद्रपदा का उदय है, उससे अविरुद्ध उत्तरचर उत्तरभद्रपदा के उदय की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि है।

अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि

सहचरानुपलब्धिर्यथा, नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य सम्यग्ज्ञान है, उससे अविरुद्ध सहचर सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि का उदाहरण है।

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

विरुद्ध कार्यकारणस्वभाव-व्यापकसहचरानुपलम्भभे ॥ १०४ ॥

अर्थ—विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धानुपलब्धि के पांच भेद हैं॥

(१) विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विरुद्ध कारणानुपलब्धि

(३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि (४) विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (५) विरुद्ध सहचरानुपलब्धि ॥

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि

विरुद्ध कार्यानुपलब्धिर्यथा—अत्र प्राणिनि रोगातिशयः समस्ति, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस प्राणी मे रोग का अतिशय है, क्योंकि नीरोग चेष्टा नहीं देखी जाती।

विवेचन—यहाँ रोग का अतिशय साध्य है, उससे विरुद्ध नीरोगता है और नीरोगता के कार्य की-चेष्टा की-यहाँ अनुपलब्धि है। अत. यह विरुद्ध कार्यानुपलब्धि है।

विरुद्ध कारणानुपलब्धि

विरुद्ध कारणानुपलब्धिर्यथा, विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्ट-मिष्टसंयोगाभावात् ॥ १०६ ॥

अर्थ—इस प्राणी को कष्ट है, क्योंकि इष्ट-संयोग का अभाव है।

विवेचन—यहाँ साध्य कष्ट है। इससे विरुद्ध सुख है। उसका कारण इष्टमित्रों का संयोग है और उसका अभाव है। अत यह विरुद्ध कारणोपलब्धि है।

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्यथा वस्तुजातमनेकान्तात्मकं, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

चतुर्थ परिच्छेद

आगम प्रमाण का विवेचन

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ १ ॥

उपचारादाप्तवचनं च ॥ २ ॥

अर्थ—आप्त के वचन से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं ॥

उपचार से आप्त का वचन भी आगम कहलाता है ॥

विवेचन—आप्त का स्वरूप अगले सूत्र में बताया जायगा। प्रामाणिक पुरुष को आप्त कहते हैं। आप्त के शब्दों को सुनकर श्रोता को पदार्थ का ज्ञान होता है। उसी ज्ञान को आगम कहते हैं। आगम के इस लक्षण से ज्ञात होता है कि आगम-ज्ञान में आप्त कारण होते हैं। अतः शब्द कारण है और ज्ञान कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से आप्त के वचन भी आगम कहलाते हैं।

आगम का उदाहरण

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतयः ॥३॥

अर्थ—इस जगह रत्नों का खजाना है, मेरु पर्वत आदि हैं।

विवेचन—आगम के यहाँ दो उदाहरण हैं। इन वाक्यों को सुनने से होने वाला ज्ञान आगम कहलाता है, और ये दोनो वाक्य उपचार से आगम हैं। आगे आप्त के दो भेद बतायेंगे, उन्हीं की अपेक्षा यहाँ दो उदाहरण बताये हैं।

आप्त का स्वरूप

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—कही जाने वाली वस्तु को जो ठीक-ठीक जानता हो और जैसी जानता हो वैसी ही कहता हो, वह आप्त है ॥

उस यथार्थज्ञाता और यथार्थ वक्ता का कथन ही विसंवाद रहित होता है।

विवेचन—मिथ्या भाषण के दो कारण होते हैं—(१) अज्ञान और (२) कषाय। मनुष्य किसी वस्तु का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं जानता हो फिर भी उस वस्तु का कथन करे तो उसका कथन मिथ्या होगा। अथवा वस्तु का स्वरूप ठीक-ठीक जानकर भी कोई कषाय के कारण अन्यथा भाषण करता है। उसका भी कथन मिथ्या होता है। जिस पुरुष में यह दोनो कारण न हो अर्थात् जिसे वस्तु का सम्यग्ज्ञान हो और अपने ज्ञान के अनुसार ही भाषण करता हो, उसका कथन मिथ्या नहीं हो सकता। ऐसे ही पुरुष को आप्त कहते हैं।

अर्थ—स्वाभाविक शक्ति और संकेत के द्वारा शब्द, पदार्थ का बोधक होता है।

विवेचन—शब्द को सुनकर उससे पदार्थ का बोध क्यों होता है? इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शब्द के पदार्थ का ज्ञान होने के दो कारण हैं—(१) शब्द की स्वाभाविक शक्ति और (२) संकेत।

(१) स्वाभाविक शक्ति—जैसे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है, अथवा सूर्य में पदार्थों को प्रकाशित कर देने की स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में अभिधेय पदार्थ का बोध करा देने की शक्ति है। इस शक्ति को योग्यता अथवा वाच्य वाचक शक्ति भी कहते हैं।

संकेत—प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु एक ही शब्द यदि संसार में समस्त पदार्थ का वाचक बन जायगा तो लोक-व्यवहार नहीं चलेगा। लोक-व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक हो। ऐसी नियतता लाने के लिये संकेत की आवश्यकता है

इस प्रकार स्वाभाविक सामर्थ्य और संकेत के द्वारा शब्द से पदार्थ का ज्ञान होता है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, यथार्थ... पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे दीपक स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता ... प्रकार शब्द स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता है, किन्... ता और असत्यता पुरुष के गुण-दोष पर निर्भर है।

विवेचन—दीपक के समीप अच्छा या बुरा जो भी पदार्थ होगा उसीको दीपक प्रकाशित करेगा उसी प्रकार शब्द वक्ता द्वारा प्रयोग किये जाने पर पदार्थ का बोध करा देगा, चाहे वह पदार्थ वास्तविक हो या अवास्तविक हो, काल्पनिक हो या सत्य हो। तात्पर्य यह है कि शब्द का कार्य पदार्थ का बोध कराना है, उसमें सच्चाई और झुठाई के वक्ता गुणों और दोषों पर निर्भर है। वक्ता यदि गुणवान् होगा तो शाब्दिक ज्ञान सत्य होगा, वक्ता यदि दोषी होगा तो शाब्दिक ज्ञान मिथ्या होगा।

शब्द की प्रवृत्ति

सर्वत्रायं ध्वनिर्विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभंगीमनुगच्छति ॥ १३ ॥

अर्थ—शब्द, सर्वत्र विधि और निषेध के द्वारा अपने वाच्य-अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ सप्तभंगी के रूप में प्रवृत्त होता है।

सप्तभंगी का स्वरूप

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १४ ॥

अर्थ—एक ही वस्तु में, किसी एक धर्म (गुण) सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से सात प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। वह वचन 'स्यात्' पद से युक्त होता है और उसमें कहीं विधि की विव.. होती है, कहीं निषेध की विवक्षा होती है और कहीं दोनों की वि होती है।

विधिं प्रधानं शब्दः [illegible] न साधु ॥ २२ ॥

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्त इत्यप्यसारं ॥ २४ ॥

क्वचित् कदाचित् कथञ्चित्प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

अर्थ—शब्द प्रधानरूप से विधि को ही प्रतिपादन करता है यह कथन ठीक नहीं ॥

क्योंकि शब्द से निषेध का ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥

शब्द निषेध को अप्रधान रूप से ही प्रतिपादन करता है, यह कथन भी निस्सार है।

अर्थ—शब्द प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक है, यह एकान्त कथन भी पूर्वोक्त न्याय से खण्डित हो गया।

विवेचन—शब्द यदि प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक माना जाय तो उससे विधि का ज्ञान कभी नहीं होगा। विधि अप्रधान रूप से ही शब्द से ज्ञात होती है, यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि जिसे प्रधान रूप से कभी नहीं जाना उसे गौण रूप से भी नहीं जा जान सकते।

तृतीय भंग के एकांत का निराकरण

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥

अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याऽप्यबाध्यमानत्वात् ॥ २८ ॥

अर्थ—शब्द क्रम से विधि-निषेध का (तीसरे भंग का) ही प्रधान रूप से वाचक है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है ॥

क्योंकि शब्द अकेले विधि का और अकेले निषेध का प्रधान रूप से वाचक है, इस प्रकार होने वाला अनुभव मिथ्या नहीं है ॥

विवेचन—शब्द सिर्फ तीसरे भंग का वाचक है इस एकान्त का यहाँ खण्डन किया गया है क्योंकि शब्द तीसरे भंग की तरह प्रथम और द्वितीय का भी वाचक है, ऐसा अनुभव होता है।

चतुर्थ भंग के एकान्त का निराकरण

युगपद्विध्मतमनोऽर्थस्याऽवाचक एवासाविति च न चतुरस्रम् ॥ २९ ॥

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अर्थ- -शब्द एक साथ विधि-निषेध रूप पदार्थ का अवाचक ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है ॥

क्योंकि ऐसा मानने से पदार्थ अवक्तव्य शब्द से भी वक्तव्य नहीं होगा ॥

विवेचन—शब्द चतुर्थ अंग अर्थात् अवक्तता को ही प्रतिपादन करता है, ऐसा मान लेने पर पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य हो जायगा, फिर वह अवक्तव्य शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा। अत केवल चतुर्थ भंग का वाचक शब्द नहीं माना जा सकता।

पंचम भङ्ग के एकांत का निराकरण

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वावाचकाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

अर्थस्य—शब्द विधि रूप पदार्थ का वाचक होना हुआ उभयात्मक-विधि निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवाचक ही है, अर्थात् पंचम भंग का ही वाचक है, ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक और युगपत् द्वयात्मक (विधि-निषेध रूप) पदार्थ का अवाचक है, ऐसी भी प्रतीति होती है ॥

विवेचन—शब्द [illegible] वाचक है ऐसा मानना [illegible] से वाचक भी प्रतीत होता है।

छठे भङ्ग के एकान्त का निराकरण

निषेधात्मनोऽर्थस्यैव वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपद-वाचक एवायमित्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥

अर्थ—शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ विधि-निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवाचक ही है ऐसा एकान्त निश्चय करना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि अन्य प्रकार से भी शब्द पदार्थ का वाचक मालूम होता है ॥

विवेचन—शब्द सिर्फ नास्ति अवक्तव्यता रूप छठे भङ्ग का ही वाचक है ऐसा एकान्त भी मिथ्या है क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय आदि भङ्गों का भी वाचक प्रतीत होता है।

सातवें भङ्ग के एकांत का निराकरण

क्रमाक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चावा-चकश्च ध्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

विधिमात्रादिप्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः प्रतीतिः॥३६॥

अर्थ—शब्द क्रम से उभयरूप और युगपत् उभयरूप पदार्थ

हैं और एक एक धर्म की लेकर एक एक सप्तभंगी हो सकती है इसलिए अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियाँ होंगी। और अनन्त सप्तभंगियाँ हैं, वे स्वीकार की हैं।

भंग सम्बन्धी [illegible] शंका-समाधान

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात् ॥३९॥

तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ॥४०॥

तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ॥४१॥

तस्यापि सप्तप्रकारत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

अर्थ—भंग सात इस कारण होते हैं कि शिष्य के प्रश्न सात ही हो सकते हैं ॥

सात प्रकार की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है अत: प्रश्न सात ही होते हैं ॥

सात ही सन्देह होते हैं इसलिए जिज्ञासाएँ सात होती हैं ॥

सन्देह के विषयभूत अस्तित्व आदि वस्तु के धर्म सात प्रकार के होते हैं अतएव सन्देह भी सात ही होते हैं ॥

विवेचन—वस्तु के एक धर्म की अपेक्षा सात ही भंग क्यों होते हैं ? न्यून या अधिक क्यों नहीं होते ? इस शंका का समाधान करने के लिए यहाँ कारण-परम्परा बताई है। सात भंग इसलिए होते हैं कि एक धर्म के विषय मे शिष्य के प्रश्न सात ही हो सकते हैं। सात

[illegible] प्रमाण से भिन्न है, पर [illegible] प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन करने के लिए अलग शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि एक शब्द एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकता है। मगर ऐसा करने से लोक व्यवहार नहीं चल सकता। अतएव जब एक शब्द का प्रयोग करते हैं। तब वह शब्द मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है, और शेष धर्मों को उस एक धर्म से अभिन्न मान लेते हैं। इस प्रकार एक शब्द से एक धर्म का प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होने के कारण शेष धर्मों का भी प्रतिपादन होगया। इस उपाय से एक ही शब्द एक साथ अनन्त धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादक हो जाता है। इसी को सकलादेश कहते हैं।

शब्द द्वारा साक्षात् रूप से प्रतिपादित धर्म से, शेष धर्मों का अभेद काल आदि द्वारा होता है। काल आदि आठ हैं—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणी-देश (७) संसर्ग (८) शब्द।

मान लीजिये, हमें अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद करना है तो वह इस प्रकार होगा—जीव में जिस काल में अस्तित्व है उसी काल में अन्य धर्म है अतः काल की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद है। इसी प्रकार शेष सात की अपेक्षा भी अभेद समझना चाहिये। इसीको अभेद की प्रधानता कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय को मुख्य और पर्यायार्थिक नय को गौण करने से अभेद की प्रधानता होती है। जब पर्यायार्थिक नय मुख्य और द्रव्यार्थिक नय गौण होता है तब अनन्त गुण वास्तव में अभिन्न नहीं हो सकते। अतएव उन गुणों में अभेद का उपचार करना पड़ता है। इस प्रकार अभेद की प्रधानता और अभेद के उपचार से एक साथ अनन्त धर्मा-

विवेचन—परोक्ष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से परोक्ष प्रमाण उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार घट-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर घट का ज्ञान होता है और पट-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर पट का ज्ञान होता है। यही कारण है कि किसी ज्ञान मे केवल घट ही प्रतीत होता है और किसी मे सिर्फ पट ही प्रतीत होता है। साराश यह है कि जिस पदार्थ को जानने वाले ज्ञान के आवरण का क्षयोपशम होगा वही पदार्थ उस ज्ञान मे प्रकाशित होगा। इस प्रकार क्षयोपशम रूप शक्ति ही नियत-नियत पदार्थों को प्रकाशित करने मे कारण है।

मतान्तर का खण्डन

न तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां; तयोः पार्थक्येन सामस्त्येन च व्यभिचारोपलम्भात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—तदुत्पत्ति और तदाकारता से प्रतिनियत पदार्थ को जानने की व्यवस्था नही हो सकती; क्योंकि अकेली तदुत्पत्ति मे, अकेली तदाकारता में और तदुत्पत्ति-तदाकारता दोनो मे व्यभिचार पाया जाता है।

विवेचन—ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना तदुत्पत्ति है और ज्ञान का पदार्थ के आकार का होना तदाकारता है। बौद्ध इन दोनो से प्रतिनियत पदार्थ का ज्ञान होना मानते है। उनका कथन है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है और जिस पदार्थ के आकार का होता है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानता है। इस प्रकार तदुत्पत्ति और तदाकारता से ही ज्ञान नियत घट आदि को जानता है, क्षयोप-

पंचम परिच्छेद

प्रमाण के विषय का निरूपण
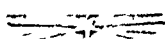
प्रमाण का विषय

तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥१॥

अर्थ—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों वाली वस्तु प्रमाण का विषय है।

विवेचन—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह ही वस्तु है। अनेक पदार्थों में एकसी प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही शब्द का वाच्य बनाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे अनेक गायों में 'यह भी गौ है, यह भी गौ है', इस प्रकार का ज्ञान और शब्द प्रयोग कराने वाला 'गोत्व धर्म' सामान्य है। इससे विपरीत एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भेद कराने वाला धर्म विशेष कहलाता है, जैसे उन्हीं अनेक गायों में नीलापन, ललाई, सफेदी आदि। सामान्य और विशेष जैसे वस्तु के स्वभाव हैं उसी प्रकार और भी अनेक धर्म उसके स्वभाव हैं। ऐसी अनेक स्वभाव वाली वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

सामान्य-विशेषरूपता का समर्थन

अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वात्, प्राचीनोत्तरा-

कारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्याऽर्थक्रियासामर्थ्य-घटनाच्च ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य विशेष रूप पदार्थ प्रमाण का विषय है, क्योंकि वह अनुगत प्रतीति (सदृश ज्ञान) और विशिष्टाकार प्रतीति (भेद-ज्ञान) का विषय होता है। दूसरा हेतु—क्योंकि पूर्व पर्याय के विनाश रूप, उत्तर पर्याय के उत्पाद रूप और दोनों पर्यायों में अवस्थिति रूप परिणति से अर्थक्रिया की शक्ति देखी जाती है।

विवेचन—जिन पदार्थों में एक दृष्टि से हमें सदृशता—समानता की प्रतीति होती है उन्हीं पदार्थों में दूसरी दृष्टि से विसदृशता—विशेष की प्रतीति भी होने लगती है। दृष्टि में भेद होने पर भी जब तक पदार्थ में सदृशता और विसदृशता न हो तब तक उनकी प्रतीति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ में सदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है और विसदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म भी है।

इसके अतिरिक्त पदार्थ पर्याय रूप से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, फिर भी द्रव्य रूप से अपनी स्थिति कायम रखता है। इस प्रकार उत्पाद व्यय और ध्रौव्य मय होकर ही वह अपनी क्रिया करता है। यहाँ उत्पाद-व्यय पदार्थ की विशेषरूपता सिद्ध करते हैं और ध्रौव्य सामान्य रूपता सिद्ध करता है।

इन दोनों हेतुओं से यह स्पष्ट होजाता है कि सामान्य और दोनों ही वस्तु के धर्म हैं।

सामान्य का निरूपण

सामान्यं द्विप्रकारं—तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च ॥ ३ ॥

प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं, शबल-शाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा ॥ ४ ॥

पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं, कटक-कंकणाद्यनुगामिकाञ्चनवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य ॥

प्रत्येक व्यक्ति में समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे—चितकबरी, श्याम, लाल आदि गायों में 'गोत्व' तिर्यक् सामान्य है।

पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में समान रूप में रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है, जैसे—कड़े, कंकण आदि पर्यायों में समान रहने वाला सुवर्ण द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है ॥

विवेचन—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के उदाहरणों को देखने से विदित होगा कि ध्यान-पूर्वक एक काल में अनेक व्यक्तियों में पाई जाने वाली समानता तिर्यक् सामान्य है और अनेक कालों में एक ही व्यक्ति में पाई जाने वाली समानता ऊर्ध्वतासामान्य है। दोनों सामान्यों के स्वरूप में यही भेद है।

विशेष का निरूपण

विशेषोऽपि द्विरूपो—गुणः पर्यायश्च ॥ ६ ॥

गुणः सहभावी धर्मो, यथा-आत्मनि विज्ञानव्यक्ति-शक्त्यादयः ॥ ७ ॥

षष्ठ परिच्छेद

प्रमाण के फल का निरूपण

प्रमाण के फल की व्याख्या
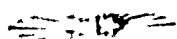
यत्प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण के द्वारा जो साधा जाय—निश्चय किया जाय, वह प्रमाण का फल है।

फल के भेद

तद् द्विविधम्—आनन्तर्येण पारम्पर्येण च ॥ २ ॥

अर्थ—फल दो प्रकार का है—अनन्तर (साक्षात्) फल, और परम्परा फल (परोक्ष फल)

फल-निर्णय

तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥३॥

पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् ॥४॥

शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः ॥५॥

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति होना सब प्रमाणों का साक्षात् फल है।

केवलज्ञान का परम्परा फल उदासीनता है ॥

शेष प्रमाणों का परम्परा फल ग्रहण करने की बुद्धि, त्याग-बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि होना है ॥

विवेचन — प्रमाण के द्वारा किसी पदार्थ को जानने के बाद जो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है वह अनन्तर फल या साक्षात् फल है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि सभी ज्ञानों का साक्षात् फल अज्ञान का नष्ट होना ही है।

अज्ञान-निवृत्ति रूप साक्षात् फल के फल को परम्परा फल कहते हैं क्योंकि वह अज्ञाननिवृत्ति से उत्पन्न होता है। परम्परा फल सब ज्ञानों का समान नहीं है। केवली भगवान् केवल ज्ञान से सब पदार्थों को जानते हैं, पर न तो उन्हें किसी पदार्थ को ग्रहण करने की बुद्धि होती है, न किसी पदार्थ को त्यागने की ही। वीतराग होने के कारण सभी पदार्थों पर उनका उदासीनता का भाव रहता है। अतएव केवलज्ञान का परम्परा फल उदासीनता ही है।

केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, विकल-पारमार्थिक प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का परम्परा फल समान है। ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने का भाव, त्याज्य पदार्थों को त्यागने का भाव और उपेक्षणीय पदार्थों पर उपेक्षा करने का भाव, होना इन प्रमाणों का परम्परा फल है।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

तत्प्रमाणतः स्याद्भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वान्यथा-नुपपत्तेः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, अन्यथा प्रमाण [illegible] नहीं बन सकता।

विवेचन—प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न माना जाय तो दोष आता है और सर्वथा अभिन्न माना जाय तब भी दोष आता है, इसलिए कथंचित् भिन्न-अभिन्न मानना ही उचित है।

फल, प्रमाण से सर्वथा भिन्न माना जाय तो दोनों में कुछ भी सम्बन्ध न होगा, फिर 'इस प्रमाण का यह फल है' ऐसी व्यवस्था नहीं होगी और सर्वथा अभिन्न माना जाय तो दोनों एक ही वस्तु हो जाएँगे—प्रमाण और फल अलग-अलग दो वस्तुएँ सिद्ध न हो सकेंगी।

दोष परिहार

उपादानबुद्धयादिना प्रमाणाद् भिन्नेन व्यवहितफलेन हेतोर्व्यभिचार इति न विभावनीयम् ॥ ७ ॥

तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणादभेदव्यवस्थितेः ॥ ८ ॥

प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः ॥ ९ ॥

य. प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसंव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् ॥ १० ॥

इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत ॥ ११ ॥

अर्थ—उपादान बुद्धि आदि प्रमाण से सर्वथा भिन्न परम्परा

फल में 'प्रमाणफलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही फल रूप से परिणमन होना, अनुभव सिद्ध है ।

जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही त्यागता है, वही उपेक्षा करता है, ऐसा सभी व्यवहार-कुशल लोगों को अनुभव होता है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के फल की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विशेष—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथंचित् भिन्न-अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार के अनुमान प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परम्परा-फल में व्यभिचार दिया। उनका कहना—'परम्परा फल भिन्न-अभिन्न नहीं है फिर भी वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु सदोष है।' इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि परम्परा फल भी सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु कथंचित् अभिन्न भी है। अतएव हमारा हेतु सदोष नहीं है।

प्रश्न—हानोपादान बुद्धि आदि परम्परा फल अभिन्न कैसे है ?

उत्तर—एक प्रमाता में प्रमाण और परम्परा फल का [illegible]

फल में 'प्रमाणफलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप में परिणत आत्मा का ही फल रूप से परिणमन होना, अनुभव सिद्ध है ।

जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही त्यागता है, वही उपेक्षा करता है, ऐसा सभी व्यवहार-कुशल लोगों को अनुभव होता है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के फल की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथंचित् भिन्न-अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार के अनुमान-प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परम्परा-फल में व्यभिचार दिया। उनका कहना—'परम्परा फल भिन्न-अभिन्न नहीं है फिर भी वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु सदोष है।' इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि परम्परा फल भी सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु सदोष नहीं है।

शंका—हान-बुद्धि आदि परम्परा फल अभिन्न कैसे है ?

समाधान—एक प्रमाता में प्रमाण और परम्परा फल का [illegible] ॥

शंका—फल प्रमाता से कैसे तादात्म्य रखता है ?

समाधान—जिस आत्मा के प्रमाण होता है उसीके उसका फल होता है अर्थात् जो आत्मा वस्तु को जानता है उसी आत्मा में ग्रहण आदि करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। एक के जानने से दूसरे में ग्रहण या त्याग करने की भावना उत्पन्न नहीं होती, इससे प्रमाण और फल का एक ही प्रमाता से तादात्म्य सिद्ध होता है।

शंका—ऐसा न होने से हानि क्या है ?

समाधान—प्रथम तो यह कि सभी लोगों को ऐसा ही अनुभव होता है, अत ऐसा न मानने से अनुभव विरोध होगा। इसके अतिरिक्त ऐसा न मानने से प्रमाण-फल की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी। देवदत्त के जानने से जिनदत्त उस वस्तु का ग्रहण कर लेगा और जिनदत्त द्वारा जानने से देवदत्त उसका त्याग कर देगा। अर्थात् एक को प्रमाण होगा और दूसरे को उसका फल मिल जायगा।

इस अव्यवस्था से बचने के लिए प्रमाण के परम्परा फल को भी प्रमाण से कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए और ऐसा मान लेने से हेतु में व्यभिचार भी नहीं आता।

पुन दोष परिहार

अज्ञाननिवृत्तिरूपेण प्रमाणादभिन्नेन साक्षात्फलेन साधनस्यानेकान्त इति नाशङ्कनीयम् ॥

कथञ्चित्तस्यापि प्रमाणाद् भेदेन व्यवस्थानात् ॥१३॥

साध्यसाधनभावेन प्रमाणफलयोः प्रतीयमानत्वात् ।१"

परम्परा फल की भाँति साक्षात् फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।

शंका—आपने ज्ञान को प्रमाण माना है, अज्ञान निवृत्ति को साक्षात् फल माना है और इन दोनों में कथंचित् भेद भी कहते हैं। पर ज्ञान में और अज्ञाननिवृत्ति में क्या भेद है? यह दोनों एक ही मालूम होते हैं?

समाधान—ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति नहीं है परन्तु ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति होती है। अतः ज्ञान-रूप प्रमाण साधन है और अज्ञान निवृत्ति रूप फल साध्य है।

प्रमाता और प्रमिति का भेदाभेद

प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः।१७।

कर्तृक्रिययोः साध्यसाधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥

कर्त्ता हि साधकः स्वतन्त्रत्वात्, क्रिया तु साध्या कर्तृनिर्वर्त्यत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रमाता (ज्ञाता) से भी स्व-पर का निश्चय होना रूप क्रिया का कथंचित् भेद है॥

क्योंकि कर्त्ता और क्रिया में साध्य-साधकभाव पाया जाता है॥

स्वतन्त्र होने के कारण कर्त्ता साधक है और कर्त्ता द्वारा उत्पन्न होने के कारण क्रिया साध्य है॥

विवेचन—यहाँ कर्त्ता (प्रमाता) और क्रिया (प्रमिति)

कथंचित् भेद बताया गया है। अनुमान का
क्रिया से कर्त्ता कथंचित् भिन्न है, क्योंकि
है। जहाँ साध्य-साधक सम्बन्ध होता है
जैसे देवदत्त मे और जाने में।'

कर्त्ता साधक है और क्रिया साध्य है

एकान्त का खण्डन

न च क्रिया क्रियावतः का

प्रतिनियतक्रियाक्रियावद्भावभङ्गप्रसङ्गात् ॥

अर्थ—क्रिया, क्रियावान (कर्त्ता) से
और न एकान्त अभिन्न है। एकान्त भिन्न या
'क्रिया-क्रियावत्व' का अभाव हो जायगा।

विवेचन—यौग लोग क्रिया और क्रियावान्
मानते है और बौद्ध दोनों में एकान्त अभेद मानते हैं।
मिथ्या हैं। यदि क्रिया और क्रियावान में एकान्त भेद
यह 'क्रिया इस क्रियावान की है' ऐसा नियत सम्बन्ध
होगा। मान लीजिये, देवदत्त क्रियावान, गमन क्रिया
मगर वह क्रिया देवदत्त से इतनी भिन्न है जितनी
है। तब वह क्रिया जिनदत्त की न होकर देवदत्त की ही
जायगी? किन्तु यह क्रिया देवदत्त की ही कहलाती है इससे
होता है कि क्रिया देवदत्त (क्रियावान) से कथंचित् अभिन्न

इससे विपरीत, बौद्धों के कथनानुसार अगर क्रिया
क्रियावान से एकान्त अभेद मान लिया जाय तो भी 'यह क्रिया

क्रियावान की है' ऐसा सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। एकान्त अभेद मानने पर या तो क्रिया की ही प्रतीति होगी या कर्त्ता की ही प्रतीति होगी-दोनों अलग-अलग प्रतीत नहीं होंगे। एक ही पदार्थ क्रिया और कर्त्ता दोनों नहीं हो सकता अतएव क्रिया और क्रियावान में कथंचित् भेद भी मानना चाहिए।

शून्यवादी का खण्डन

संवृत्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापः, परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥ २१ ॥

अर्थ—प्रमाण और फल का व्यवहार काल्पनिक है, ऐसा कहना अप्रामाणिक लोगों का प्रलाप है, क्योंकि ऐसा मानने से उसका मत वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकता ॥

विवेचन—प्रमाण मिथ्या—काल्पनिक है. और प्रमाण का फल भी मिथ्या है, ऐसा शून्यवादी माध्यमिक का मत है। इस प्रकार प्रमाण को मिथ्या मानने वाला शून्यवादी अपना मत प्रमाण से सिद्ध करेगा या बिना प्रमाण के ही ? अगर प्रमाण से सिद्ध करना चाहे तो मिथ्या प्रमाण से वास्तविक मत कैसे सिद्ध होगा ? अगर बिना प्रमाण के ही सिद्ध करना चाहे तो अप्रामाणिक बात कौन स्वीकार करेगा ? इस प्रकार शून्यवादी अपने मत को वास्तविक रूप से सिद्ध नहीं कर सकता।

निष्कर्ष

ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकलपुरुषार्थसिद्धिहेतुः स्वीकर्त्तव्यः ॥ २२ ॥

जैसे सन्निकर्ष, स्व को न जानने वाला ज्ञान, पर को न जानने वाला ज्ञान, दर्शन, विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय ॥

विवेचन—प्रमाण के स्वरूप से स्वरूपाभास की तुलना करने से विदित होगा कि स्वरूपाभास, स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।

अज्ञान रूप सन्निकर्ष को प्रमाण का स्वरूप कहना, स्व को अथवा पर को न जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहना, अनिश्चयात्मक ज्ञान अथवा दर्शन को प्रमाण कहना या समारोप को प्रमाण कहना, प्रमाण का स्वरूपाभास है।

स्वरूपाभास होने का कारण

तेभ्यः स्व-परव्यवसायस्यानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ज्ञान आदि से स्व-पर का व्यवसाय नहीं हो सकता (इसलिये वे स्वरूपाभास हैं)।

विवेचन—प्रमाण का स्वरूप बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान स्व और पर का यथार्थ निश्चय करने वाला हो वही प्रमाण हो सकता है; पर स्वरूपाभासों की गणना करते समय जो ज्ञान बताये गये हैं उनसे स्व-पर का यथार्थ निश्चय नहीं होता, अतएव वे स्वरूपाभास है। इन ज्ञानों में कोई 'स्व' का निश्चायक नहीं, कोई पर का निश्चायक नहीं, कोई स्व-पर दोनों का निश्चायक नहीं है और निर्विकल्पक, दर्शन तथा समारोप यथार्थ निश्चायक नहीं हैं। सन्निकर्ष ज्ञान रूप नहीं है। अतः इनमें प्रमाण का स्वरूप घटित नहीं होता।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते

यथा-अम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानञ्च॥२८

अर्थ—जो ज्ञान वास्तव में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष सरीखा जान पड़ता हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है ॥

जैसे—मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान होना और दुःख में सुख का ज्ञान होना ॥

विवेचन—सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का लक्षण स्पष्ट है। यहाँ 'मेघों मे गन्धर्व-नगर का ज्ञान', यह उदाहरण इन्द्रिय निबंधन सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है, क्योंकि यह इन्द्रियों से होता है 'और दुःख में सुख का ज्ञान' यह उदाहरण अनिन्द्रियनिबंधन सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है क्योंकि यह ज्ञान मन से उत्पन्न होता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम् ॥२६॥

यथा-शिवाख्यस्य राजर्षेरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीपसमुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष सरीखा झलके उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास कहते हैं॥

जैसे—शिव नामक राजर्षि का असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से सात द्वीप समुद्रों का ज्ञान ॥

विवेचन—शिव राजर्षि को विभंगावधि ज्ञान उत्पन्न हुआ

था। उस ज्ञान से ऋषि को सात द्वीप-समुद्रों का ज्ञान हुआ—आगे के द्वीप-समुद्र उन्हें मालूम नहीं हुए। तब उन्होंने यह प्रसिद्ध किया कि मध्यलोक में सिर्फ सात द्वीप और सात समुद्र हैं, अधिक नहीं। ऋषि के इस विभंग ज्ञान का कारण मिथ्यात्व था। अतएव यह उदाहरण अवधिज्ञानाभास का है। मन पर्याय ज्ञान और केवलज्ञान के आभास कभी नहीं होते, क्योंकि यह दोनो ज्ञान मिथ्यादृष्टि को नहीं होते।

स्मरणाभास

अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥३१॥

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा ॥३२॥

अर्थ—पहले जिसका अनुभव न हुआ हो उस वस्तु में 'वह' ऐसा-ज्ञान होना स्मरणाभास है॥

जैसे—जिस मुनि-मण्डल का पहले अनुभव न हुआ हो उसमें 'वह मुनिमण्डल' ऐसा ज्ञान होना॥

विवेचन—जिस मुनिमंडल को पहले कभी नहीं जाना-देखा उसको 'वह मुनि-मंडल' इस प्रकार स्मरण करना स्मरणाभास है। क्योंकि स्मरणज्ञान अनुभूत पदार्थ में ही होता है।

प्रत्यभिज्ञानाभास

तुल्ये पदार्थे स एवायमिति, एकस्मिंश्च तेन तुल्य इत्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ३३ ॥

यमलकजातवत् ॥ ३४ ॥

मैत्र के पुत्र' हेतु के साथ कालेपन की व्याप्ति नहीं है फिर भी व्याप्ति प्रतीति हुई अतः यह मिथ्या व्याप्ति-ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास

पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पक्षाभास आदि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है॥

विवेचन—पक्ष, हेतु दृष्टान्त, उपनय और निगमन, अनुमान के अवयव हैं। इन पाँचों अवयवों में से किसी एक के मिथ्या होने पर अनुमानाभास हो जाता है। अतएव यहाँ पाँचों अवयवों के आभास आगे बताये जायेंगे। इन सब आभासों को ही अनुमानाभास समझना चाहिये।

पक्षाभास

तत्र प्रतीतनिराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाभासाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पक्षाभास तीन प्रकार का है। (१) प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण (२) निराकृत साध्यधर्मविशेषण (३) अनभीप्सित साध्यधर्मविशेषण-पक्षाभास।

विवेचन—साध्य को अप्रतीत, अनिराकृत और अभीप्सित बताया है उससे विरुद्ध साध्य जिस पक्ष में बताया जाय वह पक्षाभास है।

[illegible]

[illegible]

पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पक्षाभास आदि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है ॥

विवेचन—पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन, अनुमान के अवयव हैं। इन पाँचों अवयवों में से किसी एक के मिथ्या होने पर अनुमानाभास हो जाता है। अतएव यहाँ पाँचों अवयवों के आभास आगे बताये जायेंगे। इन सब आभासों को ही अनुमानाभास समझना चाहिये।

पक्षाभास

तत्र प्रतीतनिराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाभासाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पक्षाभास तीन प्रकार का है। (१) प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण (२) निराकृत साध्यधर्मविशेषण (३) अनभीप्सित साध्यधर्मविशेषण-पक्षाभास।

विवेचन—साध्य को अप्रतीत, अनिराकृत और अभीप्सित बताया है, उससे विरुद्ध साध्य जिस पक्ष में बताया जाय वह पक्षाभास है।

प्रतीतसाध्यधर्म विशेषण पक्षाभास

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—आर्हतान्प्रति अवधारणवर्ज्यं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैनों के प्रति अवधारण (एव-ही) के बिना 'जीव है' इस प्रकार कहना प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—'जीव है' यहाँ जीव पक्ष है और 'है' साध्य है। यह साध्य जैनों को प्रतीत सिद्ध है। अत. इस पक्ष का साध्य-धर्मरूप विशेषणपक्षाभास होगया। यदि इस पक्ष में 'एव-ही' का प्रयोग किया गया होता तो यह साध्य अप्रतीत होता क्योंकि जैन जीव में एकान्त अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु पर-रूप से नास्तित्व भी मानते हैं।

निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास के भेद

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः ॥४०॥

अर्थ—निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमाननिराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचन-निराकृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

प्रत्यक्षनिराकृत

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—नास्ति भूतविलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

अर्थ—'पाँच भूतो से भिन्न आत्मा नही है' यह प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतो से भिन्न आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव होता है, अतः 'भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है' यह पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

अनुमाननिराकृत

अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति सर्वज्ञो वीतरागो वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—'सर्वज्ञ अथवा वीतराग नहीं है' यह अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणपक्षाभास है।

विवेचन—अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ और वीतराग की सत्ता सिद्ध है, अतः 'सर्वज्ञ या वीतराग नहीं है' यह प्रतिज्ञा अनुमान से बाधित है।

आगमनिराकृत

आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-जैनैः रजनिभोजनं भजनीयम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—'जैनों को रात्रि-भोजन करना चाहिये' यह आगमनिराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—जैन आगमो में रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। कहा है—

प्रतीतसाध्यधर्म विशेषण पक्षाभास

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–आर्हतान्प्रति अवधारण वर्ज्यं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ – जैनों के प्रति अवधारण (एव-ही) के विना 'जीव है' इस प्रकार कहना प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—'जीव है' यहाँ जीव पक्ष है और 'है' साध्य है। यह साध्य जैनो को प्रतीत सिद्ध है। अतः इस पक्ष का साध्य-धर्मरू विशेषणपक्षाभास होगया। यदि इस पक्ष मे 'एव-ही' का प्रयोग किय गया होता तो यह साध्य अप्रतीत होता क्योंकि जैन जीव में एकान्त अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु पर-रूप से नास्तित्व भ मानते हैं।

निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास के भेद

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः ॥४०॥

अर्थ—निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमाननिराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचननिराकृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

प्रत्यक्षनिराकृत

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–नास्ति भूतविलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

अर्थ—'पाँच भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है' यह प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से भिन्न आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव होता है, अत. 'भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है' यह पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

अनुमाननिराकृत

अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति सर्वज्ञो वीतरागो वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—'सर्वज्ञ अथवा वीतराग नहीं है' यह अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणपक्षाभास है।

विवेचन—अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ और वीतराग की सत्ता सिद्ध है, अत 'सर्वज्ञ या वीतराग नहीं है' यह प्रतिज्ञा अनुमान से बाधित है।

आगमनिराकृत

आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—जैनैः रजनिभोजनं भजनीयम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—'जैनों को रात्रि-भोजन करना चाहिये' यह आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—जैन आगमों में रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। कहा है—

प्रतीतसाध्यधर्म विशेषण पक्षाभास

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—आर्हतान्प्रति अवधारणवर्ज्यं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैनों के प्रति अवधारण (एव-ही) के बिना 'जीव है' इस प्रकार कहना प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—'जीव है' यहाँ जीव पक्ष है और 'है' साध्य है। यह साध्य जैनो को प्रतीत सिद्ध है। अतः इस पक्ष का साध्य-धर्मरूप विशेषणपक्षाभास होगया। यदि इस पक्ष में 'एव-ही' का प्रयोग किया गया होता तो यह साध्य अप्रतीत होता क्योंकि जैन जीव मे एकान्त अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु पर-रूप से नास्तित्व भी मानते हैं।

निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास के भेद

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः ॥४०॥

अर्थ—निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमाननिराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचननिराकृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

प्रत्यक्षनिराकृत

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—नास्ति भूतविलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

विवेचन—प्रमाण प्रमेय (घट आदि) को नहीं जानता, ऐसा कहने वाले से पूछना चाहिए—तुम प्रमाण को जानते या नहीं ? यदि नहीं जानते तो कैसे कहते हो कि प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता ? अगर जानते हो तो तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? नहीं है तो तुम्हारा कथन कोई स्वीकार नहीं कर सकता। यदि तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है तो उसने प्रमाण सामान्य रूप प्रमेय को जाना है यह बात तुम्हारे ही कथन से सिद्ध हो जाती है। अतएव 'प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता' यह प्रतिज्ञा स्ववचन बाधित है।

'मेरी माता वन्ध्या है', 'मैं आजीवन मौनी हूँ,' इत्यादि अनेक स्ववचन बाधित के उदाहरण समझ लेना चाहिए।

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणो यथा—स्याद्वादिनः शाश्वतिक एव कलशादिरशाश्वतिक एव वेति वदतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—घट एकान्त नित्य है अथवा एकान्त अनित्य है, ऐसा बोलने वाले जैन का पक्ष अनभीप्सित साध्य-धर्म-विशेषण पक्षाभास होगा।

विवेचन—जिस पक्ष का साध्य वादी को स्वयं इष्ट न हो वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास कहलाता है। जैन अनेकान्त वादी हैं। वे घट को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं मानते। फिर भी अगर कोई जैन ऐसा पक्ष बोले तो वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास होगा।

हेत्वाभास के भेद

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥४७॥

विवेचन—प्रमाण, प्रमेय (घट आदि) को नहीं जानता, ऐसा कहने वाले से पूछना चाहिए—तुम प्रमाण को जानते या नहीं? यदि नहीं जानते तो कैसे कहते हो कि प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता? अगर जानते हो तो तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है या नहीं? नहीं है तो तुम्हारा कथन कोई स्वीकार नहीं कर सकता। यदि तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है तो उसने प्रमाण सामान्य रूप प्रमेय को जाना है यह बात तुम्हारे ही कथन से सिद्ध हो जाती है। अतएव 'प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता' यह प्रतिज्ञा स्ववचन बाधित है।

'मेरी माता वन्ध्या है', 'मैं आजीवन मौनी हूँ,' इत्यादि अनेक स्ववचन बाधित के उदाहरण समझ लेना चाहिए।

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणो यथा—स्याद्वादिनः शाश्वतिक एव कलशादिरशाश्वतिक एव चेति वदतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—घट एकान्त नित्य है अथवा एकान्त अनित्य है, ऐसा बोलने वाले जैन का पक्ष अनभीप्सित-साध्य-धर्म-विशेषण पक्षाभास होगा।

विवेचन—जिस पक्ष का साध्य वादी को स्वयं इष्ट न हो वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास कहलाता है। जैन स्याद्वादी [illegible] हैं। वे घट को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं मानते हैं। फिर भी मान लो कोई जैन ऐसा पक्ष बोले तो वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास होगा।

हेत्वाभास के भेद

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥४७॥

दोनों को सिद्ध नहीं है; क्योंकि शब्द आँख से नहीं दीखता बल्कि कान से सुनाई देता है।

वृक्ष अचेतन हैं, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और मरण से रहित हैं यहाँ 'ज्ञान-इन्द्रिय और मरण से रहित हैं,' यह हेतु वादी बौद्ध को सिद्ध है किन्तु प्रतिवादी जैन को सिद्ध नहीं है। क्योंकि जैन लोग वृक्षों में ज्ञान, इन्द्रिय और मरण का होना स्वीकार करते हैं। अत: केवल प्रतिवादी को असिद्ध होने के कारण यह हेतु अन्यतरासिद्ध है।

विरुद्ध हेत्वाभास

साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथानुपपत्तिरध्यवसीयते स विरुद्धः ॥ ५२ ॥

यथा नित्य एव पुरुषोऽनित्य एव वा, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात् ॥ ५३ ॥

अर्थ—साध्य से विपरीत के पदार्थ साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है ॥

जैसे—पुरुष सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य ही है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान आदि वाला है ॥

विवेचन—यहाँ सर्वथा नित्यता अथवा सर्वथा अनित्यता साध्य है इस साध्य से विपरीत कथंचित् अनित्यता है। और कथंचित् नित्यता अथवा कथंचित् अनित्यता के साथ ही 'प्रत्यभिज्ञान आदि वाले' हेतु की व्याप्ति निश्चित है। अर्थात् जो

श[illegible] नित्य है, क्योंकि प्रमेय है — यहाँ अनित्यत्व साध्य है। इस [illegible] अनित्य पदार्थों में पाया जाता है [illegible] [illegible] निश्चित रूप से [illegible] विपक्ष हुआ और उसमें प्रमेयत्व (हेतु) [illegible] है ([illegible] प्रमेय-प्रमाण के विषय [illegible]) इसलिए [illegible] हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास में रहा।

विवादग्रस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है, यहाँ सर्व-ज्ञता का अभाव साध्य है। इस साध्य का अभाव सर्वज्ञ में पाया जाता है अतः सर्वज्ञ विपक्ष हुआ। उस विपक्ष सर्वज्ञ में वक्तृत्व रह सकता है, अतः यह हेतु संदिग्धविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास विपक्ष में ही रहता है और अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष, सपक्ष, और विपक्ष तीनों में रहता है। अनैकान्तिक को व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं।

दृष्टान्ताभास

साधर्म्येण दृष्टान्ताभासो नवप्रकारः ॥ ५८ ॥

साध्यधर्मविकलः, साधनधर्मविकलः, उभयधर्मविकलः, संदिग्धसाध्यधर्मा, संदिग्धसाधनधर्मा, संदिग्धोभयधर्मा, अनन्वयो, ऽप्रदर्शितान्वयो, विपरीतान्वयश्चेति ॥ ५६ ॥

अर्थ—साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं॥

(१) साध्यधर्म विकल (२) साधनधर्मविकल (३) उभयधर्म-विकल (४) संदिग्धसाध्यधर्म (५) संदिग्धसाधनधर्म (६) संदिग्धउभय-धर्म (७) अनन्वय (८) अप्रदर्शितान्वय और (६) विपरीतान्वय ॥

(६) संदिग्धउभयधर्मदृष्टान्ताभास

नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युभयधर्मा।६५

अर्थ—यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि वाला है, जैसे अमुक मुनि। यह सन्दिग्ध-उभय दृष्टान्ताभास है। क्योंकि अमुक मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्व दोनों का ही संदेह है।

(७) अनन्वय दृष्टान्ताभास

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदित्यनन्वयः ॥ ६६ ॥

अर्थ—विवक्षित पुरुष रागादि वाला है, क्योंकि वक्ता है, जैसे कोई इष्ट पुरुष।

विवेचन—जिस दृष्टान्त में अन्वय व्याप्ति न बन सके उसे अनन्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। यहाँ इष्ट पुरुष में रागादिमत्व और वक्तृत्व-दोनों मौजूद रहने पर भी जो जो 'वक्ता होता है वह वह रागादि वाला होता है' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि अर्हन्त भगवान् वक्ता हैं पर रागादि वाले नहीं है। अतः 'इष्ट पुरुष' यह दृष्टान्त अनन्वय दृष्टान्ताभास है।

(८) अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः।६७

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घट। यहाँ घट दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास है।

विवेचन—जिस दृष्टान्त मे अन्वयव्याप्ति तो हो किन्तु वादी ने वचन द्वारा उसका कथन न किया हो, उसे अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। यहाँ घट मे अनित्यता और कृतकता भी है, मगर अन्वय प्रदर्शित न करने के कारण ही यह दोष है।

(६) विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं, घटवदितिविपरीतान्वयः ॥ ६८ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो अनित्य होता है, वह कृतक होता है, जैसे घट। यह विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास है।

विवेचन—अन्वय व्याप्ति मे साधन होने पर साध्य का होना बताया जाता है, पर यहाॅ साध्य के होने पर साधन का होना बताया गया है, इसलिए यह विपरीत अन्वय हुआ। यह विपरीत अन्वय घट दृष्टान्त मे बताया गया है अत घट दृष्टान्त विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास है।

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास

वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासो नवधा ॥ ६९ ॥

असिद्धसाध्यव्यतिरेको, ऽसिद्धसाधनव्यतिरेको ऽसिद्धोभयव्यतिरेकः, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः संदिग्ध साधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभयव्यतिरेको, ऽव्यतिरेको, ऽप्रदर्शितव्यतिरेको, विपरीतव्यतिरेकश्च ॥ ७० ॥

अर्थ—वैधर्म्य दृष्टान्ताभास नौ प्रकार का है।

अर्थ—प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) है, क्योंकि वह प्रमाण है। जो निर्विकल्पक नहीं होता वह प्रमाण नहीं होता जैसे अनुमान। यहाँ 'अनुमान' दृष्टान्त असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि उसमें 'प्रमाणत्व' (हेतु) का अभाव नहीं है—अर्थात् अनुमान प्रमाण है।

(३) असिद्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्, यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्तद्यथास्तम्भः इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः ॥ ७३ ॥

अर्थ—शब्द नित्य-अनित्य रूप है क्योंकि सत् है, जो नित्य-अनित्य नहीं होता वह सत् नहीं होता जैसे स्तम्भ। यहाँ स्तम्भ दृष्टान्त असिद्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि स्तम्भ में नित्यानित्यता (साध्य) और सत्त्व (साधन) दोनों का अभाव नहीं है अर्थात् स्तम्भ नित्यानित्य भी है और सत् भी है।

(४) संदिग्ध साध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्तवादित्वात्ः यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगतः, इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगते ॥ ७४ ॥

अर्थ—कपिल सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं हैं क्योंकि वह एकान्त-नित्यवादी है जो सर्वज्ञ अथवा आप्त होता है वह एकान्त क्षणिकवादी होता है, जैसे सुगत (बुद्ध)। यहाँ 'सुगत' दृष्टान्त संदिग्धसाध्य-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि सुगत में असर्वज्ञता अथवा

प्तना (साध्य) के अभाव मे सन्देह है अर्थात् सुगत मे न असर्वज्ञता का अभाव निश्चित है और न अनाप्तता का अभाव निश्चित है।

(५) असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वात् यः पुनरादेयवचनः स वीतरागस्तद्यथा शुद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, शौद्धोदनौ रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—कोई विवक्षित पुरुष अग्राह्य वचन वाला है, क्योंकि वह रागादि वाला है, जो ग्राह्य वचन वाला होता है वह वीतराग होता है, जैसे बुद्ध। यहाँ 'बुद्ध' दृष्टान्त संदिग्धसाधनव्यतिरेक है है क्योंकि बुद्ध मे रागादिमत्व (साधन) के अभाव में संदेह।

(६) संदिग्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति संदिग्धोभयव्यतिरेकः; तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः संशयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—कपिल वीतराग नहीं हैं, क्योंकि उन्होने दया-पात्र व्यक्तियों को भी परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस

के टुकडे नहीं दिये है, जो वीतराग होता है वह दयापात्र व्यक्तियो को परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस के टुकड़े दे देता है, जैसे बुद्ध। यहाँ बुद्ध दृष्टान्त संदिग्ध-उभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि बुद्ध में तो वीतरागता के अभाव की (साध्य की) व्यावृत्ति है और न दयापात्र-व्यक्तियो को मास के टुकड़े न देने रूप साधन की ही व्यावृत्ति है। अर्थात् यहाँ दृष्टान्त मे साध्य और साधन की ही व्यावृत्ति है। अर्थात् यहाँ दृष्टान्त मे साध्य और साधन दोनो के अभाव का निश्चय नहीं है।

(७) अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

न वीतरागः कश्चित् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात् यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः ॥७७॥

अर्थ—कोई विवक्षित पुरुष वीतराग नहीं है क्योकि वह वक्ता है, जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता, जैसे 'पत्थर का टुकडा' दृष्टान्त अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योकि यहाँ जो व्यतिरेक व्याप्ति बताई गई है, वह ठीक नहीं है।

(८) अप्रदर्शित व्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकः ॥ ७८ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योकि कृतक है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योकि इस दृष्टान्त मे व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बताई गई है।

(६) विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशम्, इति विपरीतव्यतिरेकः ॥ ७६ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त विपरीत-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति विपरीत बताई गई है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव बताना चाहिए सो साधन के अभाव में साध्य का अभाव बता दिया है।

उपनयाभास और निगमनाभास

उक्तलक्षणोल्लङ्घनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदाभासौ ।८०।

यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकश्च कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात् परिणामी कुम्भ इति ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया उसका उल्लंघन करके उपनय और निगमन बोलने से उपनयाभास [illegible]भास हो जाते हैं ॥

उपनयाभास का उदाहरण—शब्द परिणामी है, क्योंकि

(६) विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशम्, इति विपरीतव्यतिरेकः ॥ ७६ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त विपरीत-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति विपरीत बताई गई है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव बताना चाहिए सो साधन के अभाव में साध्य का अभाव बता दिया है।

उपनयाभास और निगमनाभास

उक्तलक्षणोल्लङ्घनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदाभासौ ।८०।

यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकश्च कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात् परिणामी कुम्भ इति ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया है उसका उल्लंघन करके उपनय और निगमन बोलने से उपनयाभास और निगमनाभास हो जाते हैं ॥

उपनयाभास का उदाहरण—शब्द परिणामी है, क्योंकि

कृतक है, जो कृतक होता है वह परिणामी होता है जैसे कुम्भ, यहाँ 'शब्द परिणामी है' या 'कुम्भ कृतक है' इस प्रकार कहना ॥

और इसी अनुमान में 'इसलिए शब्द कृतक है' अथवा 'इसलिए घट परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है ॥

विवेचन—पक्ष में हेतु का दोहराना उपनय कहलाता है। हेतु को न दोहरा कर किसी और को दोहराना उपनयाभास है। जैसे उक्त उदाहरण 'शब्द परिणामी है' यहाँ पक्ष मे साध्य को दोहराया गया है और 'कुम्भ कृतक है' यहाँ पर सपक्ष (दृष्टान्त) मे हेतु दोहराया गया है, अतः यह दोनो उपनयाभास है।

पक्ष मे साध्य का दोहराना निगमन है। और पक्ष मे साध्य को न दोहरा कर, किसी को किसी मे दोहरा देना निगमनाभास है। जैसे यहाँ पक्ष (शब्द) मे एक जगह कृतकत्व हेतु को दोहरा दिया है और दूसरी जगह सपक्ष (कुम्भ) में साध्य को दोहराया है; 'इस लए शब्द परिणामी है' ऐसा कहना निगमन होता किन्तु 'इसलिए शब्द कृतक है' 'इसलिए कुम्भ परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है।

आगमाभास

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अनाप्त पुरुष के वचन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान आगमाभास है।

विवेचन—आगम और आप्त का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। यथार्थ ज्ञाता और यथार्थवक्ता पुरुष को कहते हैं। जो आप्त न हो वह अनाप्त है। अनाप्त के वचन से होने वाला ज्ञान आगमाभास है।

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं तस्य तदा-
भासम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—प्रमाण से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न प्रमाण का फल फलाभास है।

विवेचन—बौद्ध प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानते हैं और नैयायिक सर्वथा भिन्न मानते हैं। वस्तुत: यह सब फलाभास है, क्योंकि फल तो प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है।

आगमाभास का उदाहरण

यथा मेकलकन्यकायाः कूले, तालहिंतालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत बालकाः ॥८४॥

अर्थ—जैसे रेवा नदी के किनारे, ताल और हिंताल वृक्षों के नीचे पिंड खजूर पड़े हैं—लड़को ! जाओ, जल्दी जाओ ॥

विवेचन—वास्तव में रेवा नदी के किनारे पिंडखजूर नहीं हैं, फिर भी कोई व्यक्ति बच्चों को बहकाने के लिए झूठमूठ ऐसा कहता है। इस कथन को सुनकर बच्चों को पिंडखजूर का ज्ञान होना आगमाभास है।

प्रमाण संख्याभास

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण की मिथ्या संख्या करना संख्याभास है।

विवेचन—वास्तव में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन भेदों से विपरीत एक, दो, तीन, चार आदि भेद मानना संख्याभास या भेदाभास है। कौन कितने प्रमाण मानते हैं यह भी पहले ही बताया जा चुका है।

विषयाभास

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादि-विषयाभासः ॥ ८६ ॥

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥

अर्थ—समस्त विशेषो मे उदासीनता रखने वाला और शुद्ध सत्ता मात्र द्रव्य को विषय करने वाला नय परसंग्रहनय कहलाता है।

जैसे—सत्ता सब मे पाई जाती है अतः विश्व एक रूप है ॥

विवेचन—पर सामान्य को सत्ता या महासत्ता कहते हैं। उसी को पर संग्रहनय विषय करता है। सत्ता सामान्य की अपेक्षा विश्व एक रूप है, क्योंकि विश्व का कोई भी पदार्थ सत्ता से भिन्न नही है।

परसंग्रहाभास

सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

सत्तैव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥१८

अर्थ—एकान्त सत्ता मात्र को स्वीकार करने वाला और घट आदि सब विशेषों का निषेध करने वाला अभिप्राय परसंग्रह नयाभास है ॥

जैसे—सत्ता ही वास्तविक वस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न घट आदि विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते ॥

विवेचन—पर संग्रह नय भी सत्ता मात्र को ही विषय करता है और परसंग्रह नयाभास भी सत्तामात्र को ही विषय करता है। [illegible]

विवेचन—द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। ऋजुसूत्र नय भी पर्यायार्थिक नय है, अतएव यह पर्याय को ही मुख्य करता है। 'इस समय सुख पर्याय है' इस वाक्य से सुख पर्याय की प्रधानता घोषित की गई है, सुख पर्याय के आधार भूत द्रव्य-जीव को गौण कर दिया गया है।

ऋजुसूत्रनयाभास

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

यथा—तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—द्रव्य का एकान्त निषेध करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्र-नयाभास कहलता है।

जैसे—बौद्धमत।

विवेचन—ऋजुसूत्रनय द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य करता है, किन्तु ऋजुसूत्राभास द्रव्य का सर्वथा अपलाप कर देता है। वह पर्यायो को ही वास्तविक मानता है और पर्यायों में अनुगत रूप से रहने वाले द्रव्य का निषेध करता है। बौद्धो का मत—क्षणिकवाद या पर्यायवाद—ऋजुसूत्रनयाभास है।

है समभिरूढ नयाभास पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में रहने वाले अभेद का निषेध करके एकान्त भेद का ही समर्थन करता है। इस-लिए यह नयाभास है।

एवंभूत नय

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्य-तेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥ ४० ॥

यथा–इन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त पद जो उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवभूत नय है ॥

जैसे—इन्दन (ऐश्वर्य-भोग) रूप क्रिया के होने प इन्द्र कहा जा सकता है, शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया के हो ही शक्र कहा जा सकता है और पूर्दारण (शत्रु नगर का रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

विवेचन—एवभूत नय वह दृष्टिकोण है जिसके प्रत्येक शब्द क्रियाशब्द ही है। प्रत्येक शब्द से किसी न कि का अर्थ प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में, जिस शब्द से का भाव प्रकट होता हो, उस क्रिया से युक्त पदार्थ को उस शब्द से कहा जा सकता है। जिस समय में वह क्रि न हो उस समय उस क्रिया का सूचक शब्द प्रयुक्त न सकता। जैसे पाचक शब्द से पकाने की क्रिया का अतएव जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पका रहा

भी पदार्थ किसी भी शब्द से कहा जा सकेगा। इस अव्यवस्था का निवारण करने के लिए यही मानना उचित है कि जिस शब्द से जिस क्रिया का भान हो उस क्रिया की विद्यमानता में ही उस शब्द का प्रयोग किया जाय। अन्य समयों में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अर्थनय और शब्दनय का विभाग

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ॥४४॥
शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

अर्थ—इन सातों नयों में पहले के चार नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं इसलिए वे अर्थनय हैं॥

अन्तिम तीन नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं इस कारण उन्हें शब्दनय कहते हैं॥

विवेचन—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र, पदार्थ का प्ररूपण करते हैं इसलिए उन्हें अर्थनय कहा गया है और शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—यह तीन नय, किस शब्द का वाच्य क्या होता है—यह निरूपण करते हैं, इसलिए यह शब्द नय कहलाते हैं।

नयों के विषय में अल्पबहुत्व

पूर्वो पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सात नयों में पहले-पहले के नय अधिक-अधिक विषय वाले हैं और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

भी पदार्थ किसी भी शब्द से कहा जा सकेगा। इस अव्यवस्था का निवारण करने के लिए यही मानना उचित है कि जिस शब्द में जिस क्रिया का भान हो उस क्रिया की विद्यमानता में ही उस शब्द का प्रयोग किया जाय। अन्य समयों में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अर्थनय और शब्दनय का विभाग

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ॥४४॥
शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

अर्थ—इन सातों नयों में पहले के चार नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं इसलिए वे अर्थनय हैं॥

अन्तिम तीन नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं इस कारण उन्हें शब्दनय कहते हैं॥

विवेचन—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र पदार्थ का प्ररूपण करते हैं इसलिए उन्हें अर्थनय कहा गया है और शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—यह तीन नय, किस शब्द का वाच्य क्या होता है—यह निरूपण करते हैं, इसलिए यह शब्द नय कहलाते हैं।

नयों के विषय में अल्पबहुत्व

पूर्वो पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सात नयों में पहले-पहले के नय अधिक-अधिक विषय वाले हैं और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

विवेचन—सातो नयो के विषय की न्यूनाधिकता यहाँ सामान्य रूप मे बताई गई है। पहले वाला नय विशाल विषय वाला और पीछे का नय संकुचित विषय वाला है। तात्पर्य यह है कि नैगम नय सबसे विशाल दृष्टिकोण है। फिर उत्तरोत्तर दृष्टिकोणो मे सूक्ष्मता आती गई है। विशेष विवरण सूत्रकार ने स्वयं दिया है।

अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण

सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वात् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाद्-ऋजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

अर्थ—सिर्फ सत्ता को विषय करने वाले संग्रहनय की अपेक्षा सत्ता और असत्ता को विषय करने वाला नैगम नय अधिक विषय वाला है ॥

थोडे से सत् पदार्थों को विषय करने वाले व्यवहार नय की अपेक्षा, समस्त सत् पदार्थों को विषय करने वाला सग्रहनय अधिक विषय वाला है ॥

वर्त्तमान क्षणवर्त्ती पर्याय मात्र को विषय करने वाले ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा त्रिकालवर्ती पदार्थ को विषय करने वाला व्यववहारनय अधिक विषय वाला है ॥

काल आदि के भेद से पदार्थ मे भेद बताने वाले शब्दनय की अपेक्षा, काल आदि का भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ बताने वाला ऋजुसूत्रनय अधिक विषय वाला है ॥

पर्यायवाची शब्द के भेद से पदार्थ मे भेद मानने वाले समभिरूढनय की अपेक्षा, पर्यायवाची शब्द का भेद होने पर भी पदार्थ मे भेद न मानने वाला शब्दनय अधिक विषय वाला है ॥

क्रिया के भेद से अर्थ मे भेद मानने वाले एवंभूतनय की अपेक्षा, क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ मे भेद न मानने वाला समभिरूढनय अधिक विषय वाला है ॥

विवेचन—सातो नयो मे उत्तरोत्तर सूक्ष्मता किस प्रकार आती गई है, यह क्रम यहाँ बताया है। नैगम नय सत्ता और असत्ता दोनो को विषय करता है, संग्रहनय केवल सत्ता को विषय करता है, व्यवहार थोडे से सत् पदार्थों को विषय करता है, ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान क्षणवर्ती पर्याय को ही विषय करता है, शब्दनय काल, कारक आदि का भेद होने पर पदार्थ मे भेद मानता है, समभिरूढ नय काल आदि का भेद न होने पर भी शब्द-भेद से ही पदार्थ मे भेद मानता है और एवभूत नय क्रिया के भेद से ही

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते है और एवंभूतनय सूक्ष्मता की पराकाष्ठा कर देता है।

नयसप्तभंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां-सप्तभंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय मे प्रवृत्ति करता हुआ विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकलादेश, नयवाक्य कहलाता है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तभंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तभंगी बनती है। नय-सप्तभंगी मे भी 'स्यात्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सप्तभंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तभङ्गी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनो मे अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥५४॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिए।

विवेचन—प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बतलाया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण से वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के अंश सम्ब-

[illegible]

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम् ॥५६॥

अर्थ—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा प्रमाता कहलाता है ॥

आत्मा चैतन्यमय है, परिणमनशील है, कर्मों का कर्त्ता है, कर्मफल का साक्षात् भोक्ता है, अपने प्राप्त शरीर के बराबर है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है और पुद्गलरूप अदृष्ट (कर्म) वाला है।

विवेचन—चार्वाक लोग आत्मा नहीं मानते। उनके मत का खण्डन करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है। 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। तथा 'रूप आदि के ज्ञान का कोई कर्त्ता अवश्य है, क्योंकि वह क्रिया है, जो क्रिया होती है, उसका कोई कर्त्ता अवश्य होता है, जैसे काटने की क्रिया। जानने की क्रिया का जो कर्त्ता है वही आत्मा है। इस

मुक्ति का स्वरूप

तस्योपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्न-कर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ॥ ५७ ॥

अर्थ—पुरुष का शरीर या स्त्री का शरीर पाने वाले आत्मा को सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से, समस्त कर्म-क्षय रूप मुक्ति प्राप्त होती है।

विवेचन—आत्मा पुरुष या स्त्री का शरीर पाकर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय करता है। इसी को मुक्ति कहते हैं। यहाँ 'स्त्री का शरीर' कह कर स्त्रीमुक्ति का निषेध करने वाले दिगम्बर सम्प्रदाय का निरास किया गया है। कोई लोग अकेले ज्ञान से मुक्ति मानते हैं, कोई अकेली क्रिया से मुक्ति मानते हैं। इनका खंडन करने के लिए ज्ञान और क्रिया—दोनों का ग्रहण किया है।

सम्यग्दर्शन भी मोक्ष का कारण है किन्तु वह सम्यग्ज्ञान का सहचर है, जहाँ सम्यग्ज्ञान होगा वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होगा। इसीलिये यहाँ सम्यग्दर्शन को अलग नहीं बताया है।

अर्थ—दो प्रकार के प्रारम्भक होते हैं—(१) जिगीषु—विजय की इच्छा रखने वाला और (२) तत्त्वनिर्णिनीषु—तत्त्व के निर्णय का इच्छुक।

जिगीषु का स्वरूप

स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुः जिगीषुः ॥ ३ ॥

अर्थ—स्वीकार किये हुए धर्म की सिद्धि करने के लिए, स्व-पक्ष के साधन और पर-पक्ष के दूषण द्वारा प्रतिवादी को जीतने की इच्छा रखने वाला जिगीषु कहलाता है।

तत्त्वनिर्णिनीषु का स्वरूप

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से तत्त्व की स्थापना करने का इच्छुक तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाता है।

विवेचन—वाद आरम्भ करने वाला चाहे विजय का इच्छुक हो, चाहे तत्त्व निर्णय का इच्छुक हो, उसे अपने पक्ष को प्रामाणिक रूप से सिद्ध करना पड़ता है और पर-पक्ष को दूषित करना पड़ता है। जिगीषु और तत्त्वनिर्णिनीषु का भेद वाद के उद्देश्य पर ही अवलम्बित रहता है स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण तो दोनो के लिए समान कार्य हैं।

तत्त्वनिर्णिनीषु के भेद

अयं च द्वेधा—स्वात्मनि परत्र च ॥ ५ ॥

आद्यः शिष्यादिः ॥ ६ ॥

द्वितीयो गुर्वादिः ॥ ७ ॥

अयं द्विविधः क्षायोपशमिकज्ञानशाली केवली च ॥८॥

अर्थ—तत्त्वनिर्णिनीषु दो प्रकार के हैं—(१) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु और (२) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु ॥

शिष्य आदि स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु हैं ॥

गुरु आदि परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु है ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु भी दो प्रकार के होते हैं। क्षायोपशमिकज्ञानी और केवली ॥

विवेचन—अपने आपके लिए तत्त्वबोध की इच्छा रखने वाले स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं और दूसरे को तत्त्व-बोध कराने की इच्छा रखने वाले परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं। स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु शिष्य, मित्र या और कोई सहयोगी होता है और परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु गुरु, मित्र या अन्य सहयोगी हो सकता है। इस प्रकार वाद का प्रारम्भ करने वाले चार प्रकार के होते हैं—(१) जिगीषु (२) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु (३) क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु और (४) केवलीपरत्रतत्त्वनिर्णिनीषु।

प्रत्यारम्भक

एतेन प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त कथन से प्रत्यारम्भक की भी व्याख्या होगई।

विवेचन—प्रारम्भक के चार भेद बताये हैं, वही चार भेद प्रत्यारम्भक के भी समझने चाहिए। इस प्रकार एक-एक प्रारम्भक के साथ चारों प्रत्यारम्भकों का विवाद हो तो वाद के सोलह भेद हो सकते हैं। किन्तु जिगीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का जिगीषु के साथ, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ और केवली का केवली के साथ वाद होना सम्भव नहीं है, इसलिए चार भेद कम होने से वाद के

नैव [illegible] ॥ [illegible] ॥

अर्थ—[illegible] केवली के साथ दो अङ्ग वाला वाद होता है।

विवेचन—केवली भगवान् तत्त्व-निर्णय [illegible] अतएव इस वाद में सभ्यों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

तृतीये प्रथमादीनां यथायोगं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अर्थ—परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिक ज्ञानी वादी हो तो, प्रथम, द्वितीय आदि प्रतिवादियों का पहले के समान यथायोग्य वाद होता है।

विवेचन—यदि तीसरा वादी हो तो उसके साथ प्रथम प्रति-वादी का चतुरङ्गवाद होगा, द्वितीय और तृतीय प्रतिवादी का कभी दो अङ्ग वाला, कभी तीन अङ्ग वाला वाद होगा और चतुर्थ प्रतिवादी के साथ दो अङ्ग वाला ही वाद होगा।